मैं कौन हूँ

आचार्य रजनीश

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

आचार्य श्री रजनीश तत्त्वचिंतक हैं।

आध्यात्मिक अनुभूति संपन्न हैं।

वर्तमान युगद्रष्टा हैं।

नए ढंग की विचार-दृष्टि प्रस्तुत करते हैं।

धर्म का नया मूल्यांकन बताते हैं।

आप उनके विचारों को अवश्य सुनें।

शिक्षण के संबंध में उनके क्रांतिकारक विचार मननीय हैं।

आचार्य रजनीश : एक परिचय

आचार्य रजनीश वर्तमान युग के युवा-द्रष्टा, क्रांतिकारी विचारक, आधुनिक संत, रहस्यदर्शी ऋषि और जीवन-सर्जक हैं।

वैसे तो धर्म, अध्यात्म और साधना में ही इनका जीवन-प्रवाह है; लेकिन कला, साहित्य, दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र, आधुनिक विज्ञान आदि में भी ये अनूठे और अद्वितीय हैं।

जो भी ये बोलते हैं, करते हैं, वह सब जीवन की आत्यंतिक गहराइयों और अनुभूतियों से उद्भूत होता है। ये हमेशा जीवन-समस्याओं की गहनतम जड़ों को स्पर्श करते हैं। जीवन को उसकी समग्रता में जानने, जीने और प्रयोग करने के ये जीवन्त प्रतीक हैं।

जीवन की चरम ऊँचाइयों में जो फूल खिलने संभव हैं, उन सबका दर्शन इनके व्यक्तित्व में संभव है।

११ दिसम्बर, १९३१ को मध्यप्रदेश के एक छोटे-से गाँव में इनका जन्म हुआ। दिन-दूगुनी और रात-चौगुनी इनकी प्रतिभा विकसित होती रही। सन् १९५७ में इन्होंने सागर-विश्वविद्यालय से दर्शन-शास्त्र में एम० ए० की उपाधि प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान के साथ प्राप्त की। ये अपने पूरे विद्यार्थी-जीवन में बड़े क्रांतिकारी और अद्वितीय जिज्ञासु तथा प्रतिभाशाली छात्र रहे। बाद में रायपुर और जबलपुर के दो महाविद्यालयों में क्रमशः एक और आठ वर्ष के लिए आचार्य (प्रोफेसर) के पद पर शिक्षण-कार्य करते रहे। इस बीच इनका पूरे देश में घूम-घूमकर प्रवचन देने और साधना-शिविर आयोजित करने का कार्य भी चलता रहा।

बाद में अपना पूरा समय प्रायोगिक साधना के विस्तार और धर्म के पुनरुत्थान में लगाने के उद्देश्य से ये सन् १९६६ में नौकरी छोड़ कर आचार्यपद से मुक्त हुए। इनके प्रवचनों और साधना-शिविरों से प्रेरणा पाकर अनेक प्रमुख शहरों में उत्साही प्रेमियों ने जीवन-जागृति-केन्द्र के नाम से एक मित्रों और साधकों का मिलन-स्थल (संस्थान) स्थापित किया है। वे आचार्यश्री के प्रवचन

और शिविर आयोजित करते हैं तथा पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था करते हैं। जीवन-जागृति आन्दोलन का प्रमुख कार्यालय बम्बई में लगभग आठ वर्षों से कार्य कर रहा है। अब तो आचार्यश्री भी अपने जबलपुर के निवास-स्थान को छोड़ कर 1 जुलाई, १९७० से स्थायी रूप से बम्बई में आ गए हैं, ताकि जीवन-जागृति आन्दोलन के अन्तर्राष्ट्रीय रूप को सहयोग मिल सके।

जीवन-जागृति आन्दोलन की ओर से एक मासिक पत्रिका "युक्रान्द" (युवक क्रांति दल का मुख-पत्र) पिछले दो वर्षों से तथा एक त्रैमासिक पत्रिका "ज्योतिशिखा" पिछले पाँच वर्षों से प्रकाशित हो रही है। आचार्यश्री के प्रवचनों के संकलन ही पुस्तकाकार में प्रकाशित कर दिए जाते हैं। अब तक लगभग २६ बड़ी पुस्तकें तथा २१ छोटी पुस्तिकाएँ मूल हिन्दी में प्रकाशित हुई हैं। अधिकतर पुस्तकों के गुजराती, अँग्रेजी और मराठी अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। १३ नई अप्रकाशित पुस्तकें प्रेस के लिए तैयार पड़ी हैं। अब तक आचार्यश्री प्रवचनमालाओं में तथा साधना-शिविरों में लगभग २००० घंटे जीवन, जगत और साधना के सूक्ष्मतम तथा गहनतम विषयों पर सविस्तार चर्चाएँ कर चुके हैं।

अब भारत के बाहर भी अनेक देशों में इनकी पुस्तकें लोगों की प्रेरणा और आकर्षण का केन्द्र बनती जा रही हैं। हजारों की संख्या में देशी तथा विदेशी साधक इनसे विविध गूढ़तम साधना-पद्धतियों एवं प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में प्रेरणा पा रहे हैं। योग और अध्यात्म के संदेश एवं प्रयोगात्मक जीवन-क्रान्ति के प्रसार-हेतु विभिन्न देशों से इनके लिए आमंत्रण आने शुरू हो गए हैं। शीघ्र ही भारत ही नहीं वरन् अनेक पाश्चात्य देशवासी भी इनके व्यक्तित्व से प्रेरणा और सृजन की दिशा पा सकेंगे।

२५ सितम्बर, १९७० को मनाली में आयोजित एक दस दिवसीय साधना-शिविर में आचार्यश्री के जीवन का नया आयाम सामने आया। इन्होंने वहाँ कहा कि संन्यास जीवन की सर्वोच्च समृद्धि है, अतः उसे पूर्णता में सुरक्षित रखा जाना चाहिए। उन्हें वहाँ प्रेरणा हुई कि वे संन्यास-जीवन को एक नया मोड़ देने में सहयोगी हो सकेंगे और नाचते हुए, गीत गाते हुए, आनंदमग्न, समस्त जीवन को आलिंगन करने वाले, सशक्त और स्वावलम्बी संन्यासियों के साक्षी बन सकेंगे। शिविर में तथा उसके बाद भी अनेक व्यक्तियों ने सीधे परमात्मा से संन्यास की दीक्षा ली। आचार्यश्री इस घटना के साक्षी रहे।

इस "नव संन्यास अन्तर्राष्ट्रीय-संस्था (Neo-Sannyas International)" में अब तक ४३२ व्यक्तियों ने संन्यास-जीवन में प्रवेश किया है। कुछ ही वर्षों में इनकी संख्या हजारों की होने वाली है। ये संन्यासी-जीवन की पूर्ण सघनता और व्यवहार में सक्रिय भाग लेने के साथ ही साथ विशिष्ट साधना-पद्धतियों में रत हैं। इस दिशा में संन्यासियों का एक कम्यून "विश्वनीड़" के नाम से पोस्ट आजोल, तालुका-बीजापुर, जिला-महेसाणा (गुजरात) में कार्यरत हो चुका है। ये संन्यासी आचार्यश्री रजनीश की नई जीवन-दृष्टि, जीवन-सृजन, जीवन-शिक्षा एवं प्रायोगिक धर्म-साधना के बहु-आयामों में निपुण एवं सक्षम होकर भारत तथा विश्व के कोने-कोने में धर्म और संस्कृति के पुनरुत्थान तथा "धर्म-चक्र-प्रवर्तन" हेतु बाहर निकल रहे हैं।

आचार्यश्री का व्यक्तित्व अथाह सागर-जैसा है। इनके सम्बन्ध में संकेत-मात्र हो सकते हैं। जो व्यक्ति परम आनंन्द, परम शांति, परम मुक्ति, परम निर्वाण को उपलब्ध होता है उसके श्वास-श्वास से, रोएँ-रोएँ से, प्राणों के कण-कण से एक संगीत, एक गीत, एक नृत्य, एक आह्लाद, एक सुगंध, एक आलोक, एक अमृत की प्रतिपल वर्षा होती रहती है और समस्त अस्तित्व उससे नहा उठता है। इस संगीत, इस गीत, इस नृत्य को कोई प्रेम कहता है, कोई आनंद कहता है और कोई मुक्ति कहता है। लेकिन ये सब एक ही सत्य को दिए गए अलग-अलग नाम हैं।

ऐसे ही व्यक्ति हैं—आचार्य रजनीश, जो मिट गए हैं, शून्य हो गए हैं, जो आस्तित्व और अनस्तित्व के साथ एक हो गए हैं, जिनका श्वास-श्वास अंतरिक्ष का श्वास हो गया है, जिनके हृदय की धड़कनें चाँद-तारों की धड़कनों के साथ एक हो गई हैं, जिनकी आँखों में सूरज-चाँद-सितारों की रोशनी देखी जा सकती है, जिनकी मुस्कराहटों में समस्त पृथ्वी के फूलों की सुगंध पाई जा सकती है, जिनकी वाणी में पक्षियों के प्रातः गीतों की निर्दोषता और ताजगी है और जिनका सारा व्यक्तित्व ही एक कविता, एक नृत्य और एक उत्सव हो गया है।

इस नृत्यमय, संगीतमय, सुगंधमय, आलोकमय व्यक्तित्व से प्रतिपल निकलनेवाली प्रेम की, करुणा और लहरों के साथ जब लोगों की जिज्ञासा और मुमुक्षा का संयोग होता है नव प्रवचनों के रूप में ज्ञान-गंगा वह उठती है।

इनके प्रवचनों में जीवन के, जगत के, साधना के, उपासना के विविध रूपों और रंगों का स्पर्श है। इनमें पाताल की गहराइयां हैं और विराट अंतरिक्ष की ऊँचाइयां हैं। देश और काल की सीमाओं के अतिक्रमण के बाद जो महाशून्य और निःशब्द की अनुभूति शेष रह जाती है उसे शब्दों में, इशारों में, मुद्राओं में व्यक्त करने का सफल प्रयास इनके प्रवचनों में रहता है।

इनके प्रवचन सूत्रवत् हैं, सीधे हैं, हृदय-स्पर्शी हैं, मीठे हैं, तीखे हैं और साथ ही पूरे व्यक्तित्व को झकझोरने और जगानेवाले भी हैं। इनके प्रवचनों और ध्यान के प्रयोगों से व्यक्ति की निद्रा, प्रमाद और मूर्च्छा टूटती है और वह अन्तः तथा बाह्य रूपान्तरण, जागरण और क्रांति में संलग्न हो जाता है।

अन्तर्वस्तु

१ :	मैं कौन हूँ ?	५
२ :	धर्म क्या है ?	१२
३ :	विज्ञान की अग्नि में धर्म विश्वास	१४
४ :	मनुष्य का विज्ञान	२०
५ :	विचार के जन्म के लिए विचारों से मुक्ति	२५
६ :	जीयें और जानें	३७
७ :	शिक्षा का लक्ष्य	४१
८ :	जीवन-संपदा का अधिकार	४४
९ :	समाधि योग	४७
१० :	जीवन की अदृश्य जड़ें	५१
११ :	अहिंसा क्या है ?	५५
१२ :	आनन्द की दिशा	५९
१३ :	माँगो और मिलेगा	६५
१४ :	प्रेम ही प्रभु है	७१
१५ :	नीति, भय और प्रेम	७५
१६ :	अहिंसा का अर्थ	७९
१७ :	मैं मृत्यु सिखाता हूँ	८३

मैं कौन हूँ ?

एक रात्रि की बात है। पूर्णिमा थी, मैं नदी तट पर था, अकेला आकाश को देखता था। दूर-दूर तक सन्नाटा था। फिर किसी के पैरों की आहट पीछे सुनाई पड़ी। लौटकर देखा, एक युवा साधु खड़े थे। उनसे बैठने को कहा। बैठे तो देखा कि वे रो रहे हैं। आँखों से झर-झर आँसू गिर रहे हैं। उन्हें मैंने निकट ले लिया। थोड़ी देर तक उनके कन्धे पर हाथ रखे मैं मौन बैठा रहा। न कुछ कहने को था, न कहने की स्थिति ही थी, किन्तु प्रेम से भरे मौन ने उन्हें आश्वस्त किया। ऐसे कितना समय बीता कुछ याद नहीं। फिर अन्ततः उन्होंने कहा: "मैं ईश्वर के दर्शन करना चाहता हूँ। कहिए क्या ईश्वर है या कि मैं मृगतृष्णा में पड़ा हूँ ?"

मैं क्या कहता ? उन्हें और निकट ले लिया। प्रेम के अतिरिक्त तो किसी और परमात्मा को मैं जानता नहीं हूँ।

प्रेम को न खोजकर जो परमात्मा को खोजता है, वह भूल में ही पड़ जाता है।

प्रेम के मन्दिर को छोड़कर जो किसी और मन्दिर की खोज में जाता है, वह परमात्मा से और दूर ही निकल जाता है।

किन्तु, यह सब तो मेरे मन में था। वैसे मुझे चुप देखकर उन्होंने फिर कहा: "कहिए—कुछ तो कहिए। मैं बड़ी आशा से आपके पास आया हूँ। क्या आप मुझे ईश्वर के दर्शन नहीं करा सकते ?"

फिर भी मैं क्या कहता ? उन्हें और निकट लेकर उनकी आँसुओं से भरी आँखें चूम लीं। उन आँसुओं में बड़ी आकांक्षा थी, बड़ी अभीप्सा थी। निश्चय ही वे आँखें परमात्मा के दर्शन के लिए बड़ी आकुल थीं। लेकिन, परमात्मा क्या बाहर है कि उसके दर्शन किए जा सकें ? परमात्मा इतना भी तो पराया नहीं है कि उसे देखा जा सके ! अन्ततः मैंने उनसे कहा : "जो तुम मुझसे पूछते हो, वही किसी ने श्री रमण से पूछा था। श्री रमण ने कहा था : "ईश्वर के दर्शन ? नहीं, नहीं, दर्शन नहीं हो सकते। लेकिन चाहो तो स्वयं ईश्वर अवश्य

भाग्य है। क्योंकि जो खोज स्वयं से पलायन है, वह कहीं भी नहीं ले जा सकती है।

और दो ही विकल्प हैं: स्वयं से भागो या स्वयं में जागो। भागने के लिए बाहर लक्ष्य चाहिए और जागने के लिए बाहर के सभी लक्ष्यों की सार्थकता का भ्रम-भंग।

ईश्वर जब तक बाहर है, तब तक वह भी संसार है, वह भी माया है, वह भी मूर्च्छा है। उसका आविष्कार भी मनुष्य ने स्वयं से बचने और भागने के लिए ही किया है।

मित्र, इसलिए पहली बात तो मुझे यही कहनी है कि ईश्वर, सत्य, निर्वाण, मोक्ष——यह सब न खोजें। खोजें उसे जो सब खोज रहा है। उसकी खोज ही अन्ततः ईश्वर की, सत्य की और निर्वाण की खोज सिद्ध होती है।

आत्मानुसंधान के अतिरिक्त और कोई खोज धार्मिक खोज नहीं है।

लेकिन, 'आत्म ज्ञान,' 'आत्म दर्शन,' आदि शब्द बड़े भ्रामक हैं। क्योंकि, स्वयं का ज्ञान कैसे हो सकता है? ज्ञान के लिए द्वैत चाहिए—दुई चाहिए। जहाँ दो नहीं हैं, वहाँ ज्ञान कैसे होगा? दर्शन कैसे होगा? साक्षात् कैसे होगा? वस्तुतः ज्ञान, दर्शनादि सभी शब्द द्वैत के जगत् के हैं। और जहाँ अद्वैत है, जहाँ एक ही है, वहाँ वे एकदम अर्थहीन हो जाते हों तो कोई आश्चर्य नहीं। मेरे देखे, "आत्मदर्शन" असम्भावना है। वह शब्द ही असंगत है।

मैं भी कहता हूँ: स्वयं को जानो। सुकरात ने यही कहा है। बुद्ध और महावीर ने भी यही। क्राइस्ट और कृष्ण ने भी यही। फिर भी स्मरण रहे कि जो जाना जा सकता है, वह स्व कैसे होगा? वह तो पर ही हो सकता है। जानना तो पर का ही हो सकता है। स्व तो वह है जो जानता है। स्व अनिवार्यरूप से ज्ञाता है। उसे किसी भी उपाय से ज्ञेय नहीं बनाया जा सकता। तो फिर उसका ज्ञान कैसे होगा? ज्ञान तो ज्ञेय का होता है। ज्ञाता का ज्ञान कैसे होगा? जहाँ ज्ञान है, वहाँ कोई ज्ञाता है, कुछ ज्ञेय है। वहाँ कुछ जाना जाता है और कोई जानता है। अब ज्ञाता को ही जानने की चेष्टा क्या आँख को उसी आँख से देखने के प्रयास की भाँति नहीं है? क्या कुत्तों को स्वयं अपनी ही पूंछ को पकड़ने की असफल चेष्टा करते आपने कभी देखा है? वे जितनी तीव्रता से झपटते हैं, पूंछ उतनी ही शीघ्रता से हट जाती है। इस प्रयास में वे पागल भी हो जावें तो भी क्या उन्हें पूंछ की प्राप्ति हो सकती है? किन्तु

उनसे कहा : "रिक्त स्थान आपके घर में पर्याप्त है। वह यहीं है, और कहीं गया नहीं, केवल सामान से आपने उसे ढाँक लिया है। कृपाकर सामान बाहर करें तो आप पायेंगे कि वह भीतर आ गया है। वह तो भीतर ही है। सामान के डर से दुबक गया है। सामान हटा दें और वह अभी और यहीं है।"

आत्म-ज्ञान की विधि भी यही है।

मैं तो निरंतर हूँ। सोते-जागते, उठते-बैठते, सुख में दुख में—मैं तो हूँ ही। ज्ञान हो, अज्ञान हो, मैं तो हूँ ही। मेरा यह होना असंदिग्ध है। सब पर संदेह किया जा सके, लेकिन स्वयं पर तो संदेह नहीं किया जा सकता है। जैसा कि देकार्त ने कहा है : "संदेह भी करूँ तो भी मैं हूँ, क्योंकि संदेह भी बिना उसके कौन करेगा ?"

लेकिन, यह 'मैं' कौन हूँ ?" यह 'मैं' क्या है ? कैसे इसे जानूं ? हूँ सो तो ठीक, लेकिन, क्या हूँ ? कौन हूँ ?

मैं हूँ, यह असंदिग्ध है। और क्या यह भी असंदिग्ध नहीं है कि मैं जानता हूँ—मुझमें ज्ञान है, चेतना है, दर्शन है ?

यह हो सकता है कि जो जानूं, वह सत्य न हो, असत्य हो, स्वप्न हो, लेकिन मेरा जानना—जानने की क्षमता—तो सत्य है।

इन दो तथ्यों को देखें, विचार करें। मेरा होना—मेरा अस्तित्व और मेरी जानने की क्षमता—मुझमें ज्ञान का होना, इन दोनों के आधार पर ही मार्ग खोजा जा सकता है।

मैं हूँ, लेकिन ज्ञात नहीं कौन हूँ ? अब क्या करूँ ? ज्ञान जो कि क्षमता है, ज्ञान जो कि शक्ति है, उसमें झांकूं और खोजूं। इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प ही कहाँ है ?

ज्ञान की शक्ति है, लेकिन वह ज्ञेय से—विषयों से—ढँकी है। एक विषय हटता है, तो दूसरा आ जाता है। एक विचार जाता है तो दूसरे का आगमन हो जाता है। ज्ञान एक विषय से मुक्त होता है तो दूसरे से बँध जाता है, लेकिन रिक्त नहीं हो पाता। यदि ज्ञान विषय-रिक्त हो तो क्या हो ? क्या उस अंतराल में, उस रिक्तता में, उस शून्यता में ज्ञान स्वयं में ही होने के कारण स्वयं की सत्ता का उद्घाटक नहीं बन जायगा ? क्या जब जानने को कोई विषय नहीं होगा तो ज्ञान स्वयं को ही नहीं जानेगा ?

ज्ञान जहाँ विषय-रिक्त है, वहीं वह स्वप्रतिष्ठ होता है।

ज्ञान जहाँ ज्ञेय से मुक्त है, वहीं वह शुद्ध है। और वह शुद्धता—शून्यता—ही आत्मज्ञान है।

चेतना जहाँ निर्विषय है, निर्विचार है, निर्विकल्प है, वहीं जो अनुभूति है, वही स्वयं का साक्षात्कार है।

किन्तु, यहाँ इस साक्षात्कार में न तो कोई ज्ञाता है, न ज्ञेय है। यह अनुभूति अभूतपूर्व है। उसके लिए शब्द असंभव है। लाओत्से ने कहा है: "सत्य के संबंध में जो भी कहो, वह कहने से ही असत्य हो जाता है।"

फिर भी सत्य के संबंध में जितना कहा गया है, उतना किस संबंध में कहा गया है? अनिर्वचनीय उसे कहें, तो भी कुछ कहते हो हैं? उसके संबंध में मौन रहें तो भी कुछ कहते ही हैं?

ज्ञान है शब्दातीत। किन्तु प्रेम उसके आनन्द की, उसके आलोक की, उसकी मुक्ति की खबर देना चाहता है, फिर चाहे वे इंगित कितने ही अधूरे हों और कितने ही असफल वे इशारे हों। गूंगा भी गुड़ के संबंध में कुछ कहता है? वह चाहे कुछ भी न कह पाता हो लेकिन कहना चाहता है, यह तो कह ही देता है।

किन्तु, सत्य के संबंध में किए गए अधूरे इंगितों को पकड़ लेने से बड़ी भ्रांति हो जाती है।

आत्मज्ञान की खोज में जो व्यक्ति आत्मा को एक ज्ञेय पदार्थ की भाँति खोजने निकल पड़ता है, वह प्रथम चरण में ही गलत दिशा में चल पड़ता है।

आत्मा ज्ञेय नहीं है और न ही उसे किसी आकांक्षा का लक्ष्य ही बनाया जा सकता है, क्योंकि वह विषय भी नहीं है।

वस्तुतः उसे खोजा भी नहीं जा सकता क्योंकि वह खोजनेवाला का ही स्वरूप है। उस खोज में खोज और खोजी भिन्न नहीं है। इसलिए आत्मा को केवल वे ही खोज पाते हैं, जो सब खोज छोड़ देते हैं और वे ही जान पाते हैं जो सब जानने से शून्य हो जाते हैं।

खोज को—सब भाँति की खोज को—छोड़ते ही चेतना वहाँ पहुँच जाती है, जहाँ वह सदा से ही है।

दौड़ को—सब भाँति की दौड़ को—छोड़ते ही चेतना वहीं पहुँच जाती है, जहाँ वह सदैव से ही खड़ी हुई है।

समाधि के बाद तथागत बुद्ध से किसी ने पूछा: "समाधि से आपको क्या

मिला ?" तो बुद्ध ने कहा था : "कुछ भी नहीं। खोया बहुत कुछ, पाया कुछ भी नहीं। वासना खोई, विचार खोए, सब भाँति की दौड़ और तृष्णा खोई और पाया वह जो सदा से ही पाया हुआ है।"

मैं जिसे नहीं खो सकता हूँ, वही तो है स्वरूप।

मैं जिसे नहीं खो सकता हूँ, वही तो है परमात्मा।

और सत्य क्या है ? जो सदा है, सनातन है, वही तो है सत्य। इस सत्य को, इस स्वरूप को पाने के लिए चेतना से उस सबको खोना आवश्यक है जो कि सत्य नहीं है। जिसे खोया जा सकता है, उस सबको खोकर ही वह जान लिया जाता है, जो सत्य है। स्वप्न खोते ही सत्य उपलब्ध है।

मित्र, मैं पुनः दोहराता हूँ : स्वप्न खोते ही सत्य उपलब्ध है। स्वप्न जहाँ नहीं हैं, तब जो शेष है, वही है स्व-सत्ता, वही है सत्य, वही है स्वतंत्रता।

धर्म क्या है ?

मैं धर्म पर क्या कहूँ ? जो कहा जा सकता है, वह धर्म नहीं होगा। जो विचार के परे है, वह वाणी के अन्तर्गत नहीं हो सकता है। शास्त्रों में जो हैं, वह धर्म नहीं है। शब्द ही वहाँ हैं। शब्द सत्य की ओर जाने के भले ही संकेत हों, पर वे सत्य नहीं हैं। शब्दों से संप्रदाय बनते हैं, और धर्म दूर ही रह जाता है। इन शब्दों ने ही मनुष्य को तोड़ दिया है। मनुष्यों के बीच पत्थरों की नहीं, शब्दों की ही दीवारें हैं।

मनुष्य और मनुष्य के बीच शब्द की दीवारें हैं। मनुष्य और सत्य के बीच भी शब्द की ही दीवार है। असल में जो सत्य से दूर किए हुए है, वही उसे सबसे दूर किए हुए है। शब्दों का एक मंत्र घेरा है और हम सब उसमें सम्मोहित हैं। शब्द हमारी निद्रा है, और शब्द के सम्मोहक अनुसरण में हम अपने आपसे बहुत दूर निकल गए हैं।

स्वयं से जो दूर और स्वयं से जो अपरिचित है वह सत्य से निकट और सत्य से परिचित नहीं हो सकता है। यह इसलिए कि स्वयं का सत्य ही सबसे निकट का सत्य है। शेष सब दूर है। बस स्वयं ही दूर नहीं है।

शब्द स्वयं को नहीं जानने देते हैं। उनकी तरंगों में वह सागर छिप ही जाता है। शब्दों का कोलाहल उस संगीत को अपने तक नहीं पहुँचने देता जो कि मैं हूँ। शब्द का धुआँ सत्य की अग्नि प्रकट नहीं होने देता है, और हम अपने वस्त्रों को ही जानते-जानते मिट जाते हैं और उसे नहीं मिल पाते जिसके वस्त्र थे, और जो वस्त्रों में था, लेकिन केवल वस्त्र ही नहीं था।

मैं भीतर देखता हूँ। वहाँ शब्द ही शब्द दिखाई देते हैं। विचार, स्मृतियाँ, कल्पनाएँ और स्वप्न, ये सब शब्द ही हैं, और मैं शब्द के पर्त-पर्त घरों में बँधा हूँ। क्या मैं इन विचारों पर ही समाप्त हूँ, याकि इनसे भिन्न और अतीत भी मुझमें कुछ है ? इस प्रश्न के उत्तर पर ही सब कुछ निर्भर है। उत्तर विचार से आया तो मनुष्य धर्म तक नहीं पहुँच पाता, क्योंकि विचार, विचार से अतीत को नहीं जान सकता। विचार की सीमा विचार है। उसके पार की गंध भी उसे नहीं मिल सकती है।

साधारणतः लोग विचार से ही वापिस लौट आते हैं। वह अदृश्य

दीवार उन्हें वापिस कर देती है। जैसे कोई कुआँ खोदने जाय और कंकड़-पत्थर को पाकर निराश हो रुक जाय, वैसा ही स्वयं की खुदाई में भी हो जाता है। शब्दों के कंकड़-पत्थर ही पहले मिलते हैं और यह स्वाभाविक ही है। वे ही हमारी बाहरी पर्त हैं। जीवन-यात्रा में उनकी ही धूल हमारा आवरण बन गई है।

आत्मा को पाने को सब आवरण चीर देने जरूरी हैं। वस्त्रों के पार जो नग्न सत्य है, उस पर ही रुकना है। शब्द को उस समय तक खोदे चलना है, जब तक की निःशब्द का जलस्रोत उपलब्ध नहीं हो जाय। विचार की धूल को हटाना है, जब तक कि मौन का दर्पण हाथ न आ जाय। यह खुदाई कठिन है। यह वस्त्रों को उतारना ही नहीं है, अपनी चमड़ी को उतारना है। यही तप है।

प्याज को छीलते हुए देखा है ? ऐसा ही अपने को छीलना है। प्याज में तो अन्त में कुछ भी नहीं बचता है, अपने में सब कुछ बच रहता है। सब छीलने पर जो बच रहता है, वही वास्तविक है। वही मेरी प्रामाणिक सत्ता है। वही मेरी आत्मा है।

एक-एक विचार को उठाकर दूर रखते जाना है, और जानना है कि यह मैं नहीं हूँ, और इस भाँति गहरे प्रवेश करना है। शुभ या अशुभ को नहीं चुनना है। वैसा चुनाव वैचारिक ही है, और विचार के पार नहीं ले जाता। यहीं नीति और धर्म अलग रास्तों के लिए हो जाते हैं। नीति अशुभ विचारों के विरोध में शुभ विचारों का चुनाव है। धर्म चुनाव नहीं है। वह तो उसे जानना है, जो सब चुनाव करता है, और सब चुनावों के पीछे है। यह जानना भी हो सकता है, जब चुनाव का सब चुनाव शून्य हो और केवल वही शेष रह जाय जो हमारा चुनाव नहीं है वरन् हम स्वयं हैं।

विचार के तटस्थ, चुनावशून्य निरीक्षण से विचार-शून्यता आती है। विचार तो नहीं रह जाते, केवल विवेक रह जाता है। विषय-वस्तु तो नहीं होती, केवल चैतन्य मात्र रह जाता है। इसी क्षण में प्रसुप्त प्रज्ञा का विस्फोट होता है, और धर्म के द्वार खुल जाते हैं। इसी उद्‌घाटन के लिए मैं सबको आमंत्रित करता हूँ। शास्त्र जो तुम्हें नहीं दे सकते, वह स्वयं तुम्हीं में है, और तुम्हें जो कोई भी नहीं दे सकता, उसे तुम अभी और इसी क्षण पा सकते हो। केवल शब्द को छोड़ते ही सत्य उपलब्ध होता है।

विज्ञान की अग्नि में धर्म और विश्वास

मैं स्मरण करता हूँ मनुष्य के इतिहास की सबसे पहली घटना को। कहा जाता है कि जब आदम और ईव स्वर्ग के राज्य से बाहर निकाले गए तो आदम ने द्वार से निकलते हुए जो सबसे पहले शब्द ईव से कहे थे, वे थे : "हम एक बहुत बड़ी क्रांति से गुजर रहे हैं।" पता नहीं पहले आदमी ने कभी यह कहा था या नहीं, लेकिन न भी कहा हो तो भी उसके मन में तो ये भाव रहे ही होंगे। एक बिलकुल ही अज्ञात जगत् में वह प्रवेश कर रहा था। जो परिचित था वह छूट रहा था, और जो बिलकुल ही परिचित नहीं था, उस अनजाने और अजनबी जगत् में उसे जाना पड़ रहा था। अज्ञात सागर में नौका खोलते समय ऐसा लगना स्वाभाविक ही है। ये भाव प्रत्येक युग में आदमी को अनुभव होते रहे है, क्योंकि जीवन का विकास तो निरंतर अज्ञात से अज्ञात में ही है।

जो ज्ञात हो जाता है उसे छोड़ना पड़ता है, ताकि जो अज्ञात है वह भी ज्ञात हो सके। ज्ञात की ज्योति, ज्ञात से अज्ञात में चरण रखने के साहस से ही प्रज्वलित और परिवर्तित होती है। जो ज्ञात पर रुक जाता है, वह अज्ञात पर ही रुक जाता है। ज्ञात पर रुक जाना ज्ञान की दिशा नहीं है। जब तक मनुष्य पूर्ण नहीं हो जाता है तब तक निरंतर ही पुराने और परिचित को विदा देनी होगी और नए तथा अपरिचित का स्वागत करना होगा। नए सूर्य के उदय के लिए रोज ही परिचित पुराने सूर्य को विदा दे देनी होती है। फिर संक्रमण की वेला में रात्रि के अंधकार से भी गुजरना होता है। विकास की यह प्रक्रिया निश्चय ही बहुत कष्टप्रद है। लेकिन बिना प्रसव-पीड़ा के कोई जन्म भी तो नहीं होता है।

हम भी इस प्रसव-पीड़ा से गुजर रहे हैं। हम भी एक अभूतपूर्व क्रांति से गुजर रहे हैं। शायद मानवीय चेतना में इतनी आमूल क्रांति का कोई समय भी नहीं आया था। थोड़े-बहुत अर्थों में तो परिवर्तन सदैव होता रहता है, क्योंकि परिवर्तन के अभाव में कोई जीवन ही नहीं है। लेकिन परिवर्तन की

सतत प्रक्रिया कभी-कभी वाष्पीकरण के उत्ताप-विन्दु पर भी पहुँच जाती है और तब आमूल क्रांति घटित हो जाती है। यह बीसवीं सदी एक ऐसे ही उत्ताप विन्दु पर मनुष्य को ले आई है। इस क्रांति से उसकी चेतना एक बिलकुल ही नए आयाम में गतिमय होने को तैयार हो रही है।

हमारी यात्रा अब एक बहुत ही अज्ञात मार्ग पर होनी संभावित है। जो भी ज्ञात है, वह छूट रहा है और जो भी परिचित और जाना-माना है, वह विलीन होता जाता है। सदा से चले आते जीवन-मूल्य खंडित हो रहे हैं और परंपरा की कड़ियाँ टूट रही हैं। निश्चित ही यह किसी बहुत बड़ी छलांग की पूर्व तैयारी है। अतीत की भूमि से उखड़ रही हमारी जड़ें किसी नई भूमि में स्थानान्तरित होना चाहती है और परम्पराओं के गिरते हुए पुराने भवन किन्हीं नए भवनों के लिए स्थान खाली कर रहे है ?

इन सब में मैं मनुष्य को जीवन के बिलकुल ही अज्ञात रहस्य-द्वारों पर चोट करते देख रहा हूँ। परिचित और चक्रीय गति से बहुत चले हुए मार्ग उजाड़ हो गए हैं और भविष्य के अत्यंत अपरिचित और अंधकारपूर्ण मार्गों को प्रकाशित करने की चेष्टा चल रही है। यह बहुत शुभ है, और मैं बहुत आशा से भरा हुआ हूँ। क्योंकि यह सब चेष्टा इस बात का सुसमाचार है कि मनुष्य की चेतना कोई नया आरोहण करना चाहती है। हम विकास के किसी सोपान के निकट हैं। मनुष्य अब वही नहीं रहेगा जो वह था। कुछ होने को है, कुछ नया होने को है।

जिनके पास दूर देखनेवाली आँखें हैं वे देख सकते हैं, और जिनके पास दूर को सुननेवाले कान हैं वे सुन सकते हैं। बीज जब टूटता है और अपने अंकुर को सूर्य की तलाश में भूमि के ऊपर भेजता है तो जैसी उथल-पुथल उसके भीतर होती है, वैसे ही उथल-पुथल का सामना हम भी कर रहे हैं। इसमें घबड़ाने और चिन्तित होने का कोई भी कारण नहीं है। यह अराजकता संक्रमणकालीन है।

इसके भय से पीछे लौटने की वृत्ति आत्मघाती है। फिर पीछे लौटना तो कभी संभव नहीं है। जीवन केवल आगे की ओर ही जाता है। जैसे सुबह होने के पूर्व अंधकार और भी घना हो जाता है, ऐसे ही नए के जन्म के पूर्व अराजकता की पीड़ा भी बहुत सघन हो जाती है।

हमारी चेतना में हो रही इस सारी उथल-पुथल, अराजकता, क्रांति और

नए के जन्म की संभावना का केन्द्र और आधार विज्ञान है। विज्ञान के आलोक ने हमारी आँखें खोल दी है और हमारी नींद तोड़ दी है। उसने ही हमसे हमारे बहुत से दीर्घ पोषित स्वप्न छीन लिये हैं और बहुत से वस्त्र भी और हमारे स्वयं के समक्ष ही नग्न खड़ा कर दिया है, जैसे किसी ने हमें झकझोरकर अर्धरात्रि में जगा दिया हो। ऐसा ही विज्ञान ने हमें जगा दिया है।

विज्ञान ने मनुष्य का बचपन छीन लिया है और उसे प्रौढ़ता दे दी है। उसकी ही खोजों और निष्पत्तियों ने हमें हमारी परंपरागत और रूढ़िबद्ध चिन्तना से मुक्त कर दिया है, जो वस्तुतः चिन्तना नहीं, मात्र चिन्तन का मिथ्या आभास ही थी; क्योंकि जो विचार स्वतंत्र न हो वह विचार ही नहीं होता है। सदियों-सदियों से जो अंधविश्वास मकड़ी के जालों की भाँति हमें घेरे हुए थे, उसने उन्हें तोड़ दिया है, और यह संभव हो सका है कि मनुष्य का मन विश्वास की कारा से मुक्त होकर विवेक की ओर अग्रसर हो सके।

कल तक के इतिहास को हम विश्वास-काल कह सकते हैं। आनेवाला समय विवेक का होगा। विश्वास से विवेक में आरोहण ही विज्ञान की सबसे बड़ी देन है। यह विश्वास का परिवर्तन मात्र ही नहीं है, वरन् विश्वास से मुक्ति है। श्रद्धाएँ तो सदा बदलती रहती हैं। पुराने विश्वासों की जगह नए विश्वास लेते रहे हैं। लेकिन आज जो विज्ञान के द्वारा संभव हुआ है, वह बहुत अभिनव है। पुराने विश्वास चले गए हैं और नयों का आगमन नहीं हुआ है। पुरानी श्रद्धाएँ मर गई हैं, और नई श्रद्धाओं का आविर्भाव नहीं हुआ है। यह रिक्तता अभूतपूर्व है।

श्रद्धा बदली नहीं, शून्य हो गई है। श्रद्धा-शून्य तथा विश्वास-शून्य चेतना का जन्म हुआ है। विश्वास बदल जायँ तो कोई मौलिक भेद नहीं पड़ता है। एक की जगह दूसरे आ जाते हैं। अर्थी को ले जाते समय जैसे लोग कंधा बदल लेते हैं, वैसा ही यह परिवर्तन है। विश्वास की वृत्ति तो बनी ही रहती है। जबकि विश्वास की विषय-वस्तु नहीं, विश्वास की वृति ही असली बात है। विज्ञान ने विश्वास को नहीं बदला है, उसने तो उसकी वृत्ति को ही तोड़ डाला है।

विश्वास-वृत्ति ही अंधानुगमन में ले जाती है और वही पक्षपातों से चित्त को बाँधती है। जो चित्त पक्षपातों से बँधा हो, वह सत्य को नहीं जान सकता है। जानने के लिए निष्पक्ष होना आवश्यक है।

जो कुछ भी मान लेता है, वह सत्य को जानने से वंचित हो जाता है। वह मानना ही उसका बंधन बन जाता है, जबकि सत्य के साक्षात् के लिए चेतना का मुक्त होना आवश्यक है। विश्वास नहीं, विवेक ही सत्य के द्वार तक ले जाने में समर्थ है और विवेक के जागरण में विश्वास से बड़ी और कोई बाधा नहीं है।

यह स्मरणीय है कि जो व्यक्ति विश्वास कर लेता है, वह कभी खोजता नहीं। खोज तो सन्देह से होती है, श्रद्धा से नहीं। समस्त ज्ञान का जन्म संदेह से होता है। संदेह का अर्थ अविश्वास नहीं है। अविश्वास तो विश्वास का ही निषेधात्मक रूप है। खोज न तो विश्वास से होती है, न अंधविश्वास से। उसके लिए तो **संदेह की स्वतंत्र चित्त-दशा चाहिए। संदेह केवल सत्य की खोज का पथ प्रशस्त करता है।**

विज्ञान ने जो तथाकथित ज्ञान प्रचलित और स्वीकृत था, उस पर संदेह किया और **संदेह ने अनुसन्धान के द्वार खोल दिए।** संदेह जैसे-जैसे विश्वासों या अंधविश्वासों से मुक्त हुआ वैसे-वैसे विज्ञान के चरण सत्य की ओर बढ़े। विज्ञान का न तो किसी पर विश्वास है न अविश्वास, वह तो पक्षपातशून्य अनुसन्धान है।

प्रयोग-जन्य ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी मानने की वहाँ तैयारी नहीं। वह न तो आस्तिक है, न नास्तिक। उसकी कोई पूर्व मान्यता नहीं है। वह कुछ भी सिद्ध नहीं करना चाहता है। सिद्ध करने के लिए उसकी अपनी कोई धारणा नहीं है। वह तो जो सत्य है, उसे ही जानना चाहता है। यही कारण है कि विज्ञान के पंथ और संप्रदाय नहीं बने और उसकी निष्पत्तियाँ सार्वलौकिक हो सकीं।

जहाँ पूर्वधारणाओं और पूर्वपक्षपातों से प्रारंभ होगा वहाँ अंततः सत्य नहीं, संप्रदाय ही हाथ में रह जाते हैं। अज्ञान और अंधेपन में स्वीकृत कोई भी धारणा सार्वलौकिक नहीं हो सकती। सार्वलौकिक तो केवल सत्य हो सकता है।

यही कारण है कि जहाँ विज्ञान एक है, वहाँ तथाकथित धर्म अनेक और परस्पर विरोधी हैं। धर्म भी जिस दिन विश्वासों पर नहीं, शुद्ध विवेक पर आधारित होगा, उस दिन अपरिहार्य रूप से एक ही हो जायगा। विश्वास अनेक हो सकते हैं, पर विवेक एक ही है। असत्य अनेक हो सकते हैं, पर सत्य एक ही है।

धर्म का प्राण श्रद्धा थी। श्रद्धा का अर्थ है बिना जाने मान लेना। श्रद्धा नहीं तो धर्म भी नहीं। श्रद्धा के साथ ही उसकी छाया की भाँति तथाकथित धर्म भी चला गया।

धर्मविरोधी नास्तिकता का प्राण अश्रद्धा थी। अश्रद्धा का अर्थ है : बिना जाने अस्वीकार कर देना। वह श्रद्धा के ही सिक्के का दूसरा पहलू है। श्रद्धा गई तो वह भी गई। आस्तिकता-नास्तिकता दोनों ही मृत हो गई हैं। उन दो द्वन्द्वों, दो अतियों के बीच ही सदा से हम डोलते रहे हैं।

विज्ञान ने एक तीसरा विकल्प दिया है। यह संभव हुआ है कि कोई व्यक्ति आस्तिक नातिस्क दोनों ही न हो और वह स्वयं को किन्हीं भी विश्वासों से बांधे। जीवन-सत्य के सम्बन्ध में वह परम्परा और प्रचार से अवचेतन में डाली गई धारणाओं से अपने आप को मुक्त कर ले। समाज और संप्रदाय प्रत्येक के चित्त की गहरी परतों में अत्यन्त अबोध अवस्था में ही अपनी स्वीकृत मान्यताओं को प्रवश कराने लगते हैं।

हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई, या मुसलमान अपनी-अपनी मान्यताओं और विश्वासों को बच्चों के मन में डाल देते हैं। निरंतर पुनरुक्ति और प्रचार से वे चित्त की अवचेतन परतों में बद्धमूल हो जाती हैं और वैसा व्यक्ति फिर स्वतंत्र चिन्तन के लिए करीब-करीब पंगु-सा हो जाता है। यही कम्युनिज्म या नास्तिक धर्म कर रहा है।

व्यक्तियों के साथ उनकी अबोध अवस्था में किया गया यह अनाचार मनुष्य के विपरीत किए जानेवाले बड़े से बड़े पापों में से एक है। चित्त इस भाँति परतंत्र और विश्वासों के ढांचे में कैद हो जाता है। फिर उसकी गति पटरियों पर दौड़ते वाहनों की भाँति हो जाती है। पटरियाँ जहाँ से ले जाती हैं, वहीं वह जाता है, और उसे यही भ्रम होता है कि मैं जा रहा हूँ।

दूसरों से मिले विश्वास ही उसके विचारों में प्रकट या प्रच्छन्न होते हैं, लेकिन भ्रम उसे यही कहता है कि ये विचार मेरे हैं। विश्वास यांत्रिकता को जन्म देता है और चेतना के विकास के लिए यांत्रिकता से घातक और क्या हो सकता है?

विश्वासों से पैदा हुई मानसिक गुलामी और जड़ता के कारण व्यक्ति की गति कोल्हू के बैल की-सी हो जाती है। वह विश्वासों की परिधि में ही घूमता रहता है और विचार कभी नहीं कर पाता।

विचार के लिए स्वतंत्रता चाहिए। चित्त की पूर्ण स्वतंत्रता में ही प्रसुप्त विचार-शक्ति का जागरण होता है और विचार-शक्ति का पूर्ण आविर्भाव ही सत्य तक ले जाता है।

विज्ञान ने मनुष्य की विश्वास-वृत्ति पर प्रहार कर बड़ा ही उपकार किया है। इस भाँति उसने मानसिक स्वतंत्रता के आधार रख दिए हैं। इससे धर्म का भी एक नया जन्म होगा।

धर्म अब विश्वास पर नहीं, विवेक पर आधारित होगा। श्रद्धा नहीं, ज्ञान ही उसका प्राण होगा। धर्म भी अब वस्तुतः विज्ञान ही होगा। विज्ञान पदार्थों का विज्ञान है। धर्म चेतना का विज्ञान होगा। वस्तुतः सम्यक् धर्म तो सदा से ही विज्ञान रहा है।

महावीर, बुद्ध, ईसा, पातंजलि या लाओत्से की अनुभूतियाँ विश्वास पर नहीं, विवेकपूर्ण आत्मप्रयोगों पर ही निर्भर थीं। उन्होंने जो जाना था, उसे ही माना था। मानना प्रथम नहीं, अंतिम था। श्रद्धा आधार नहीं, शिखर थी। आधार तो ज्ञान था। जिन सत्यों की उन्होंने बात की है, वे मात्र उनकी धारणाएँ नहीं हैं, वरन् स्वानुभूत प्रत्यक्ष हैं। उनकी अनुभूतियों में भेद भी नहीं है। उनके शब्द भिन्न हैं, लेकिन सत्य भिन्न नहीं।

सत्य तो भिन्न-भिन्न हो भी नहीं सकते। लेकिन ऐसा वैज्ञानिक धर्म कुछ अतिमानवीय चेतनाओं तक ही सीमित रहा है। वह लोक धर्म नहीं बना। लोक धर्म तो अंधविश्वास ही बना रहा है। विज्ञान की चोटें अंधविश्वास पर आधारित धर्म को निष्प्राण किए दे रही हैं। यह वास्तविक धर्म के हित में ही है। विवेक की कोई भी विजय अन्ततः वास्तविक धर्म के विरोध में नहीं हो सकती। विज्ञान की अग्नि में अंधविश्वासों का कूड़ा-कचरा ही जल जायगा, धर्म और भी निखर कर प्रकट होगा।

धर्म का स्वर्ण विज्ञान की अग्नि में शुद्ध हो रहा है, और धर्म जब अपनी पूरी शुद्धि में प्रकट होगा तो मनुष्य के चेतना-जगत् में एक अत्यन्त सौभाग्यपूर्ण सूर्योदय हो जायगा। प्रज्ञा और विवेक पर आरूढ़ धर्म निश्चय ही मनुष्य को अतिमानवीय चेतना में प्रवेश दिला सकता है। उसके अतिरिक्त मनुष्य की चेतना स्वयं का अतिक्रमण नहीं कर सकती, और जब मनुष्य स्वयं का अतिक्रमण करता है तो प्रभु से एक हो जाता है।

मनुष्य का विज्ञान

मैं सुनता हूँ कि मनुष्य का मार्ग खो गया है। यह सत्य है। मनुष्य का मार्ग उसी दिन खो गया, जिस दिन उसने स्वयं को खोजने से भी ज्यादा मूल्यवान किन्हीं और खोजों को मान लिया।

मनुष्य के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सार्थक वस्तु मनुष्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। उसकी पहली खोज वह स्वयं ही हो सकता है। खुद को जाने विना उसका सारा जानना अन्ततः घातक ही होगा।

अज्ञान के हाथों में कोई भी ज्ञान सृजनात्मक नहीं हो सकता, और ज्ञान के हाथों में *अज्ञान भी सृजनात्मक हो जाता है।*

मनुष्य यदि स्वयं को जाने और जीते, तो उसकी शेष सब जीतें उसकी और उसके जीवन की सहयोगी होंगी। अन्यथा वह अपने ही हाथों अपनी कब्र के लिए गड्ढा खोदेगा।

हम ऐसा ही गड्ढा खोदने में लगे हैं। हमारा ही श्रम हमारी मृत्यु बनकर खड़ा हो गया है। पिछली सभ्यताएँ वाहर के आक्रमणों और संकटों से नष्ट हुई थीं। हमारी सभ्यता पर वाहर से नहीं, भीतर से संकट है बीसवीं सदी का यह समाज यदि नष्ट हुआ तो उसे आत्मघात कहना होगा और यह हमें ही कहना होगा क्योंकि वाद में कहने को कोई भी बचने को नहीं है।

संभाव्य युद्ध इतिहास में कभी नहीं लिखा जायगा। यह घटना इतिहास के वाहर घटेगी, क्योंकि उसमें तो समस्त मानवता का अन्त होगा। पहले के लोगों ने इतिहास बनाया, हम इतिहास मिटाने को तैयार हैं।

और इस आत्मघाती संभावना का कारण एक ही है। वह है, मनुष्य का मनुष्य को ठीक से न जानना। पदार्थ की अनन्त शक्ति से हम परिचत हैं—परिचत ही नहीं, उसके हम विजेता भी हैं। पर मानवीय हृदय की गहराइयों का हमें कोई पता नहीं। उन गहराइयों में छिपे विप और अमृत का भी कोई ज्ञान नहीं है।

पदार्थाणु को हम जानते हैं, पर आत्माणु को नहीं। यही हमारी विडम्बना

है। ऐसे शक्ति तो आ गई है, पर शान्ति नहीं। अशान्त और अप्रबुद्ध हाथों में आई हुई शक्ति से ही यह सारा उपद्रव है। अशान्त और अप्रबुद्ध का शक्तिहीन होना ही शुभ होता है। शक्ति सदा शुभ नहीं। वह तो शुभ हाथों में ही शुभ होती है।

हम शक्ति को खोजते रहे, यही हमारी भूल हुई। अब अपनी ही उपलब्धि से खतरा है। सारे विश्व के विचारकों और वैज्ञानिकों को आगे स्मरण रखना चाहिए कि उनकी खोज मात्र शक्ति के ही लिए न हो। उस तरह की अंधी खोज ने ही हमें इस अंत पर लाकर खड़ा किया है।

शक्ति नहीं, शान्ति लक्ष्य बने। स्वभावतः यदि शान्ति लक्ष्य होगी, तो खोज का केन्द्र प्रकृति नहीं, मनुष्य होगा। जड़ की बहुत खोज और शोध हुई। अब मनुष्य का और मन का अन्वेषण करना होगा। विजय की पताकाएँ पदार्थ पर नहीं, स्वयं पर गाड़नी होंगी।

भविष्य का विज्ञान पदार्थ का नहीं, मूलतः मनुष्य का विज्ञान होगा। समय आ गया है कि यह परिवर्तन हो। अब इस दिशा में और देर करनी ठीक नहीं है। कहीं ऐसा न हो कि फिर कुछ करने को समय भी शेष न बचे।

जड़ की खोज में जो वैज्ञानिक आज भी लगे हैं, वे दकियानूसी हैं, और उनके मस्तिष्क विज्ञान के आलोक से नहीं, परम्परा और रूढ़ि के अंधकार में ही डूबे कहे जावेंगे। जिन्हें थोड़ा भी बोध है और जागरूकता है, उनके अन्वेषण की दिशा आमूल बदल जानी चाहिए। हमारी सारी शोध मनुष्य को जानने में लगे, तो कोई भी कारण नहीं है कि जो शक्ति पदार्थ और प्रकृति को जानने और जीतने में इतने अभूतपूर्व रूप से सफल हुई है, वह मनुष्य को जानने में सफल न हो सके। मनुष्य भी निश्चय ही जाना, जीता और परिवर्तित किया जा सकता है।

मैं निराश होने का कोई भी कारण नहीं देखता। हम स्वयं को जान सकते हैं और स्वयं के ज्ञान पर हमारे जीवन और अन्तःकरण के बिलकुल ही नए आधार रखे जा सकते हैं। एक बिलकुल ही अभिनव मनुष्य को जन्म दिया जा सकता है। अतीत में विभिन्न धर्मों ने इस दिशा में बहुत काम किया है, लेकिन वह कार्य अपनी पूर्णता और समग्रता के लिए विज्ञान की प्रतीक्षा कर रहा है। धर्मों ने जिसका प्रारम्भ किया है, विज्ञान उसे पूर्णता तक ले जा

सकता है। धर्मों ने जिसके बीज बोए है, विज्ञान उसकी फसल काट सकता है।

पदार्थ के सम्बन्ध में विज्ञान और धर्म के रास्ते विरोध में पड़ गए थे, उसका कारण दकियानूसी धार्मिक लोग थे। वस्तुतः धर्म पदार्थ के सम्बन्ध में कुछ भी कहने का हकदार नहीं था। वह उसकी खोज की दिशा ही नहीं थी। विज्ञान उस संघर्ष में विजय हो गया। यह अच्छा हुआ। लेकिन इस विजय से यह न समझा जाय कि धर्म के पास कुछ कहने को नहीं है। धर्म के पास कुछ कहने को है और बहुत मूल्यवान सम्पत्ति है। यदि उस सम्पत्ति से लाभ नहीं उठाया गया तो उसका कारण रूढ़िग्रस्त पुराणपंथी वैज्ञानिक होंगे। एक दिन एक दिशा में धर्म विज्ञान के समक्ष हार गया था, अब समय है कि उसे दूसरी दिशा में विजय मिले और धर्म और विज्ञान सम्मलित हों। उनकी संयुक्त साधना ही मनुष्य को उसके स्वयं के हाथों से बचाने में समर्थ हो सकती है।

पदार्थ को जान कर जो मिला है, आतमज्ञान से जो मिलेगा, उसके समक्ष वह कुछ भी नहीं है। धर्मों ने वह सम्भावना बहुत थोड़े लोगों के लिए खोली है। वैज्ञानिक होकर वह द्वार सबके लिए खुल सकेगा। धर्म विज्ञान बने और विज्ञान धर्म बने, इसमें ही मनुष्य का भविष्य और हित है।

मानवीय चित्त में अनन्त शक्तियाँ है और जितना उनका विकास हुआ है, उससे बहुत ज्यादा विकास की प्रसुप्त संभावनाएँ हैं। इन शक्तियों की अवस्था और अराजकता ही हमारे दुख के कारण हैं, और जब व्यक्ति का चित्त अव्यवस्थित और अराजक होता है तो वह अराजकता समष्टि चित्त तक पहुँचते ही अनन्तगुणा हो जाती है।

समाज व्यक्तियों के गुणनफल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वह हमारे अंतर्संबंधों का ही फैलाव है। व्यक्ति ही फैलकर समाज बन जाता है। इसलिए स्मरण रहे कि जो व्यक्ति में घटित होता है, उसका ही वृहत रूप समाज में प्रतिध्वनित होगा। सारे युद्ध मनुष्य के मन में लड़े गए है और सारी विकृतियों की मूल जड़ें मन में ही हैं।

समाज को बदलना है तो मनुष्य को बदलना होगा; और समष्टि के नए आधार रखने हैं, तो व्यक्ति को नया जीवन देना होगा।

मनुष्य के भीतर विष और अमृत दोनों हैं। शक्तियों की अराजकता ही

विष है और शक्तियों का संयम, सामंजस्य और संगीत ही अमृत है।

जीवन जिस विधि से सौन्दर्य और संगीत बन जाता है, उसे ही मैं योग कहता हूँ।

जो विचार, जो भाव और जो कर्म मेरे अंतः संगीत के विपरीत जाते हों, वे ही पाप हैं, और जो उसे पैदा और समृद्ध करते हों, उन्हें ही मैंने पुण्य जाना है। चित्त की वह अवस्था जहाँ संगीत शून्य हो जाय और सभी स्वर पूर्ण अराजक हों, नर्क है और वह अवस्था स्वर्ग है, जहाँ संगीत पूर्ण हो।

भीतर जब संगीत पूर्ण होता है तो ऊपर से पूर्ण का संगीत अवतरित होने लगता है। व्यक्ति जब संगीत हो जाता है, तो समस्त विश्व का संगीत उसकी ओर प्रवाहित होने लगता है।

संगीत से भर जाओ तो संगीत आकृष्ट होता है; विसंगीत विसंगति को आमंत्रित करेगा। हम में जो होता है, वही हम में आने भी लगता है, उसकी ही संग्राहकता और संवेदनशीलता हम में होती है।

उस विज्ञान को हमें निर्मित करना है, जो व्यक्ति के अंतर्जीवन को स्वास्थ्य और संगीत दे सके। यह किसी और प्रभु के राज्य के लिए नहीं, वरन् इसी जगत् और पृथ्वी के लिए है। यह जीवन ठीक हो तो किसी और जीवन की चिंता अनावश्यक है। इसके ठीक न होने से ही परलोक की चिंता पकड़ती है। जो इस जीवन को सम्यक रूप देने में सफल हो जाता है, वह अनायास ही समस्त भावी जीवनों को सुदृढ़ और शुभ आधार देने में भी समर्थ हो जाता है। वास्तविक धर्म का कोई संबंध परलोक से नहीं है। परलोक तो इस लोक का परिणाम है।

धर्मों का परलोक की चिन्ता में होना बहुत घातक और हानिकारक हुआ है। उसके ही कारण हम जीवन को शुभ और सुन्दर नहीं बना सके। धर्म परलोक के लिए रहे और विज्ञान पदार्थ के लिए—इस भाँति मनुष्य और उसका जीवन उपेक्षित हो गया। परलोक पर शास्त्र और दर्शन निर्मित हुए और पदार्थ की शक्तियों पर विजय पाई गई। किन्तु जिस मनुष्य के लिए यह सब हुआ, उसे हम भूल गए। अब मनुष्य को सर्वप्रथम रखना होगा। विज्ञान और धर्म दोनों का केन्द्र मनुष्य बनना चाहिए। इसके लिए जरूरी है कि विज्ञान पदार्थ का मोह छोड़े और धर्म परलोक का। उन दोनों का यह मोहत्याग ही उनके सम्मिलन की भूमि बन सकेगा।

विचार के जन्म के लिए : विचारों से मुक्ति

विचार-शक्ति के संबंध में आप जानना चाहते हैं ? निश्चय ही विचार से बड़ी और कोई शक्ति नहीं। विचार व्यक्तित्व का प्राण है। उसके केन्द्र पर ही जीवन का प्रवाह घूमता है। मनुष्य में वही सब प्रकट होता है, जिस के बीज वह विचार की भूमि में बोता है। विचार की सचेतना ही मनुष्य को अन्य पशुओं से पृथक भी करती हैं। लेकिन यह स्मरण रहे कि विचारों से घिरे होने और विचार की शक्ति में बड़ा भेद है। भेद ही नहीं, विरोध भी है।

विचारों से जो जितना घिरा होता है, वह विचार करने में उतना ही असमर्थ और अशक्त हो जाता है। विचारों की भीड़ चित्त को अंततः विक्षिप्त करती है। विक्षिप्तता विचारों की अराजक भीड़ ही तो है। शायद इसीलिए जगत् में जितने विचार बढ़ते जाते हैं, उतनी ही विक्षिप्तता भी अपनी जड़ें जमाती जाती है। विचारों का अच्छादन विचार-शक्ति को ढाँक लेता है और निष्प्राण कर देता है। विचार का सहज स्फुरण विचारों के बोझ से निःसत्त्व हो जाता हैं। विचारों के बादल विचार-शक्ति के निर्मल आकाश को धूमिल कर देते हैं। जैसे वर्षा में आकाश में घिर आए बादलों को ही कोई आकाश समझ ले, ऐसी ही भूल विचारों को ही विचार-शक्ति समझने में हो जाती है।

फिर भी विचार की क्षमता और विचारों के संग्रह में ऐसी भूल सदा ही होती आई है। मनुष्य के अज्ञान की आधारभूत शिलाओं में से एक भ्रांति यह भी है। विचारों का संग्रह विचारशक्ति का प्रमाण नही है। विपरीत विचार-शक्ति के अभाव को ही इस भाँति विचारों से भरकर पूरा कर लिया जाता है। प्रसुप्त विचारणा को बिना जगाए ही विचार-संग्रह विचरणा के होने का भ्रम देने लगता है। अज्ञान में ही ज्ञान की अहं पूर्ति का इससे आसान कोई मार्ग नहीं है। स्वयं में विचार की जितनी रिक्तता अनुभव होती है, उतनी ही विचारों से उसे छिपा लेने की प्रवृत्ति होती है। विचार को जगाना तो बहुत श्रमसाध्य है; किन्तु विचारों को जोड़ लेना बहुत सरल है, क्योंकि विचार तो चारों ओर परिवेश में तैरते ही रहते है। समुद्र के किनारे जैसे सीप, शंख

बन सकता है। मैं जो कह रहा हूँ क्या वह 'दो और दो चार' की भाँति ही सुस्पष्ट नहीं है ? धन चाहते हैं या कि धनी दीखना चाहते हैं ? ज्ञान चाहते हैं या कि अज्ञानी नहीं दीखना चाहते ? सब भाँति संग्रह दूसरों को धोखा देने के उपाय हैं। लेकिन इस भाँति स्वयं को धोखा नहीं दिया जा सकता है। यह सत्य दीखते ही दृष्टि में एक आमूल परिवर्तन शुरु हो जाता है।

अज्ञान सत्य है तो उससे भागें नहीं। पलायन से क्या होगा ? शास्त्रों, शब्दों और सिद्धान्तों में शरण लेने से क्या होगा ? विचारों के धुएँ में स्वयं को छिपा लेने से क्या होगा ? उससे तो और घुटन होगी और घबड़ाहट होगी। वह उपचार नहीं, उपचार के नाम पर और बड़े रोगों को निमंत्रण दे आना है।

अनेक बार ऐसा होता है कि वैद्य बीमारी से भी ज्यादा घातक सिद्ध होते हैं और औषधियाँ नए रोगों की उत्पति की श्रृंखला बन जाती हैं !

ज्ञान की खोज के नाम पर विचारों के संग्रह में पड़ जाना ऐसी ही औषधि के शिकार होना है।

अज्ञान से मुक्ति के लिए शास्त्रों से बँध जाना, स्वतंत्रता के नाम पर और भी गहरी परतंत्रता में पड़ जाना है।

सत्य शब्दों में नहीं, स्वयं में है, और उसे पाने के लिए किसी तंत्र से बँधना नहीं, वरन् सर्व तंत्रों से मुक्त होना है।

स्वतंत्रता में—पूर्ण स्वतन्त्रता में ही—सत्य का साक्षात् है।

संग्रह परतंत्रता है। संग्रह का अर्थ ही है : स्वयं पर अविश्वास और जो स्वयं नहीं है उस पर विश्वास। पर श्रद्धा ही परतन्त्रता लाती है। पर श्रद्धा से जो मुक्त होता है, वह स्वतंत्र हो जाता है।

शास्त्र में, शास्ता में, शासन में श्रद्धा परतंत्रता है।

शब्द में, सिद्धांत में, संप्रदाय में श्रद्धा परतंत्रता है।

इसलिए ही मैं कहता हूँ : पर में श्रद्धा करना परतंत्रता है। और स्व श्रद्धा है : स्वतंत्रता। स्वतंत्रता सत्य में ले जाती है।

विचार की शक्ति को जगाना तो विचारों से—उधार और पराए विचारों से—स्वतंत्र होना होगा, फिर वे विचार चाहे किसी के भी हों। उनका पराया होना ही, उनसे मुक्त होने के लिए पर्याप्त कारण है।

यह उचित है कि मैं जानूँ कि मैं अज्ञानी हूँ और अज्ञान को शीघ्रता से भूलने का कोई भी उपाय न करूँ। भूलने की दृष्टि ही तो आत्मवंचक है।

संपत्ति हो या सत्ता या तथाकथित ज्ञान, सभी में स्वयं की दरिद्रता, दीनता और अंधकारपूर्ण रिक्तता को भूलने की ही तो साधना चलती है। स्वयं की वस्तु-स्थिति के विस्मरण के लिए हम सब कैसे बेचैन रहते हैं ? आत्महीनता से जो भरे हैं, वे पद, अधिकार और शक्ति के लिए पागल रहते हैं। क्या आपको ज्ञात नहीं कि महत्त्वाकांक्षा आत्महीनता की ही पुत्री है ? आत्मदरिद्र हैं वे जो स्वर्णमुद्राओं के ढेर इकट्ठे करने में अपने स्वर्ण-जैसे जीवन को मिट्टी के मोल खो देते हैं। अपंग डोलियों पर पहाड़ चढ़कर दिखाना चाहते हैं कि वे अपंग नहीं है! और लूले-लँगड़े विद्युत् गति से दौड़ते यानों में बैठकर विश्वास कर लेना चाहते हैं कि वे लूले-लँगड़े नहीं है ! तैमूर ही लंगड़ा नहीं था, सभी तैमूर लंगड़े हैं ! अलैकजेंडर, हिटलर और शेष सभी विक्षिप्त चित्त व्यक्ति इसी नियम की साकार प्रतिमाएँ हैं। जो मृत्यु से जितना भयभीत होता है, वह उतना ही हिंसक हो जाता है, दूसरों को मारकर वह विश्वास कर लेना चाहता है कि मैं मृत्यु के ऊपर हूँ। शोषण है, युद्ध है, क्योंकि विक्षिप्त चित्त व्यक्ति स्वयं से पलायन करने में संलग्न हैं।

जीवन नागरिक हो गया है, और समाज मृत, सड़ा हुआ दुर्गंध देता शरीर हो गया है, क्योंकि हम चित्त की बहुत सी विक्षिप्तताओं को पहचानने में समर्थ नहीं हो पा रहे हैं। सत्ता की, संग्रह की, शक्ति की सभी दौड़ें पागलपन की अवस्थाएँ हैं। ये चित्त की बहुत संघातक रुग्णताएँ हैं।

जो व्यक्ति इन दौड़ों में हैं, वे बीमार हैं और जहाँ उनकी बीमारी है, ठीक उसकी विपरीत दिशा में वे अपनी बीमारी से बचने को भागे जा रहे हैं, बिना सोचे कि बीमारी बाहर नहीं है कि उससे भागा जा सके। वह भीतर है। इसलिए उससे कितना ही भागा जाय वह सदा ही साथ है। यह बोध दौड़ने की गति को तेज कर देता है।

बीमारी साथ है तो और तेजी से भागो। अंततः भागना एक पागलपन हो जाता है।

और स्वभाविक ही है, क्योंकि स्वयं से भागना संभव ही नहीं। असंभव को करने के प्रयास से ही पागलपन पैदा हो जाता है। फिर इस अशांति और अति तनाव को भूलने के लिए नशे चाहिए। शरीर के नशे चाहिए और मन के नशे चाहिए; सेक्स और शराब; भजन और कीर्तन; प्रार्थना और पूजा। स्वयं को भूलने के लिए धन की, पद की, ज्ञान की दौड़ है।

अब दौड़ को भूलने के लिए कोई और भी गहरी मादकता आवश्यक है। ऐसे व्यक्ति धर्म के निकट भी आत्म विस्मरण के लिए आते हैं। धर्म भी उन्हें एक मादक द्रव्य से ज्यादा नहीं है। तथाकथित समृद्ध देशों में धर्म के प्रति बढ़ती उत्सुकता का कोई और कारण नहीं है। धन की दौड़ तोड़ने लगती है तो धर्म की दौड़ शुरू हो जाती है। लेकिन दौड़ जारी रहती है, जबकि प्रश्न दौड़ को बदलने का नहीं, ठहरने का है और स्वयं से पलायन को छोड़ने का है।

विचारक विचारों के सहारे स्वयं से भागे रहते हैं। कलाकार कला के सहारे; राजनैतिक सत्ता के सहारे; धनिक धन के सहारे; त्यागी त्याग के सहारे; भक्त भगवान के सहारे। लेकिन जीवन-सत्य को केवल वही जान पाता है, जो स्वयं से भागता नहीं है। पलायान अस्वास्थ्य है। स्वयं से भागना अस्वास्थ्य है। स्वयं में ठहर जाना स्वस्थ होना है।

मैं जो कह रहा हूँ, उस पर विचार करें। क्या संग्रह की विक्षिप्तता किसी भी भाँति के संग्रह का पलायन स्वयं से पलायन नहीं है?

विचार का संग्रह स्वयं के अज्ञान से आँखें मूँदने की विधि है। इसलिए मैं विचार शक्ति के तो पक्ष में हूँ लेकिन विचारों के पक्ष में नहीं हूं।

क्या धनाढ्य होने से दरिद्रता मिटती है? तो फिर विचारों से अज्ञान कैसे मिट सकता है? न तो धन व्यक्तित्व के केन्द्र को स्पर्श करता है और न विचार ही। संपत्ति—किसी भी भाँति की सम्पत्ति—आत्मा को नहीं छू पाती है। वह बाहर और बाहर ही हो सकती है। लेकिन उससे भ्रम पैदा हो जाता है। कल संध्या ही एक भिखारी मुझे मिला। वह बोला: 'मैं भिखारी हूं।' उसकी आँखों में दीनता थी, वाणी में दीनता थी। लेकिन उसकी बात सुनकर मुझे हँसी आ गई और मैंने उससे कहा: "पागल! क्या कहता है कि तू दरिद्र है, भिखारी है? तेरे पास धन नहीं है, क्या इतना ही दरिद्र होने के लिए काफी है? मैं तो उन्हें भी भली भाँति जानता हूं जिनके पास बहुत धन है, लेकिन वे भी दरिद्र हैं! धन से ही तू स्वयं को दरिद्र समझता हो तो भूल है। रही दूसरी और गहरी दरिद्रता की बात। सो सभी दरिद्र हैं और भिखमंगे हैं।"

सत्य को-स्वयं के आत्यंतिक सत्य को—जिसने नहीं जाना है, वह दरिद्र है।

ज्ञान से—स्वयं में अंतर्निहित ज्ञान से—जो अपरिचित है, वह अज्ञान में है।

और स्मरण रहे कि वस्त्रों से—समृद्ध वस्त्रों से—कोई समृद्ध नहीं होता और न ही विचारों से—उधार और पराए विचारों से—कोई ज्ञान को उपलब्ध होता है !

वस्त्र दीनता को ढाँक लेते हैं और विचार अज्ञान को । लेकिन जिनके पास गहरी देखनेवाली आँखें हैं, उनके समक्ष वस्त्र दीनता के प्रदर्शन बन जाते हैं, और विचार अज्ञान के ।

आप स्वयं ही देखिए । मैं कहता हूँ, इसलिए मत मान लेना । स्वयं ही सोचो । जागो और देखो । क्या हम वस्त्रों के मोह में स्वयं को ही नहीं खो रहे हैं ? और क्या विचारों के मोह में सत्य से वंचित नहीं हो गए हैं ?

और क्या स्वयं को खोकर कुछ भी पाने योग्य है ?

मैं एक महाराजा का अतिथि था । उनसे मैंने कहा "क्या आपको भी राजा होने का भ्रम है ?" वे चकित हुए और बोले : "भ्रम ? मैं राजा हूँ ।" कितनी दृढ़ता से उन्होंने यह कहा था, और मुझे कितनी दया उन पर आई थी !

पंडितों से मिलता हूँ । उन्हें भी ज्ञानी होने के भ्रम में पाता हूँ । साधुओं से मिलता हूँ । उन्हें भी त्यागी होने के भ्रम में पाता हूँ ।

विचारों के कारण ज्ञान का आभास होने लगता है । समृद्धि के कारण सम्राट् होने का, धन को छोड़ने के कारण त्यागी होने का । धन से कोई धनी नहीं है तो धन छोड़ने से कोई त्यागी कैसे होगा ? वह तो धनी होने की भ्रांति का ही विस्तार है ।

संग्रह में सत्य नहीं है और न ही संग्रह के छोड़ देने में । सत्य तो उसके प्रति जागने में है, जो संग्रह और त्याग, परिग्रह और अपरिग्रह—दोनों के पीछे बैठा हुआ है ।

विचारों के संग्रह में ज्ञान नहीं है और न मात्र विचारों के न होने में ही ज्ञान है । ज्ञान तो वहाँ है, जहाँ वह है, जो विचारों का भी साक्षी है और विचारों के अभाव का भी ।

विचार-संग्रह ज्ञान नहीं, स्मृति है । लेकिन स्मृति के प्रशिक्षण को ही ज्ञान समझा जाता है । विचार स्मृति के कोष में संग्रहित होते जाते हैं । बाहर से प्रश्नों का संवेदन पाकर वे उत्तेजित हो उत्तर बन जाते हैं और इसे ही हम विचार करना समझ लेते हैं, जबकि विचार का स्मृति से क्या संबंध ? स्मृति

है अतीत—बीते हुये अनुभवों का मृत संग्रह। उसमें जीवित समस्या का समाधान कहाँ? जीवन की समस्याएँ हैं नित नूतन, और स्मृति से घिरे चित्त के समाधान हैं सदा अतीत। इसलिए ही जीवन उलझन बन जाता है, क्योंकि पुराने समाधान नई समस्याओं को हल करने में नितान्त असमर्थ होते हैं। चित्त चिंताओं का आवास बन जाता है, क्योंकि समस्याएँ एक ओर इकट्ठी होती जाती हैं, और समाधान दूसरी ओर। और उनमें न कोई संगति होती है और न कोई संबंध। ऐसा चित्त बूढ़ा हो जाता है और जीवन से उसका संस्पर्श शिथिल। स्वभाविक ही है कि शरीर के बूढ़े होने के पहले ही लोग अपने को बूढ़ा पाते हैं और मरने के पहले ही मृत हो जाते हैं।

सत्य की खोज के लिए—जीवन के रहस्य के साक्षात् के लिए—युवा मन चाहिए। ऐसा मन जो कभी बूढ़ा न हो। अतीत से बँधते ही मन अपनी स्फूर्ति, ताजगी और विचार-शक्ति, सभी कुछ खो देता है। फिर वह मृत में ही जीने लगता है और जीवन के प्रति उसके द्वार बंद हो जाते हैं। चित्त स्मृति से—स्मृति रूपी तथाकथित ज्ञान से—न बँधे, तभी उसमें निर्मलता और निष्पक्ष विचारणा की संभावना वास्तविक बनती है। स्मृति से देखने का अर्थ है: अतीत के माध्यम से वर्तमान को देखना। वर्तमान को ऐसे कैसे देखा जा सकता है? सम्यक्‌रूप से देखने के लिए तो आँखें सब भाँति खाली होनी चाहिए। स्मृति से मुक्त होते ही चित्त को सम्यक् दर्शन की क्षमता उपलब्ध होती है और सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान में ले जाता है। दृष्टि निर्मल हो, निष्पक्ष हो तो स्वयं में प्रसुप्त ज्ञान की शक्ति जाग्रत होने लगती है। स्मृति के भार से मुक्त होते ही दृष्टि अतीत से मुक्त हो, वर्तमान में गति करने लगती है, और मृत से मुक्त होकर वह जीवन में प्रवेश पा जाती है।

ज्ञान के लिए ज्ञान का भंडार बनाना आवश्यक नहीं। वैसा दुर्व्यवहार अपने साथ कभी मत करना। भूल से स्मृति को कभी ज्ञान मत मानना। स्मृति तो एक यांत्रिक प्रक्रिया है। वह विचार के लिए आच्छादन है। अब तो विचारों को स्मरण रखने वाले यंत्र बन गए हैं। उनके आविष्कार ने स्मृति की यांत्रिकता को भलि भाँति सिद्ध कर दिया है। फिर आप से तो भूल-चूक भी होती है, इन यंत्रों से भूल-चूक भी नहीं होती। असल में भूलचूक के लिए वहाँ गुंजाइश ही नहीं। भूल-चूक के लिए भी कुछ अयांत्रिकता आवश्यक है। ज्ञान का भोजन देते ही वे यंत्र तत्संबंध में सारे उत्तर देने में ज्यादा कुशल और भरोसे

के योग्य हो जाते हैं। क्या उन यंत्रों की भाँति ही हम भी अपनी स्मृति को भोजन नहीं देते रहते हैं? और फिर जो हमारे उत्तर हैं, क्या वे भी इस भोजन की ही प्रतिध्वनियां नहीं हैं? गीता, कुरान, बाईबिल—क्या सभी को हम अपना भोजन नहीं बनाए हुए हैं? महावीर, बुद्ध, मुहम्मद से लेकर सुबह-सुबह आनेवाले दैनिक अखबार तक क्या हमारी स्मृति इसी भोजन के लिए उत्सुक नहीं रहती है? क्या कभी आपने इस तथ्य के प्रति आँखें खोली हैं कि इस स्मृति से केवल वही आ सकता है जो उसमें डाला गया हो? इसलिए कहता हूँ कि स्मृति विचार नहीं है। और जो उसे ही विचार समझ लेते हैं वे बड़ी जड़ता में पड़ जाते हैं। स्मृति की अपनी उपयोगिताएँ हैं। उसे नष्ट करने को मैं नहीं कहता हूँ। कहता हूँ यह समझने को कि उसे ही विचार नहीं समझना है। विचार उससे बहुत ही भिन्न आयाम है।

विचार है सदा मौलिक। स्मृति है सदा यांत्रिक। स्मृतिजन्य विचार पुनरुक्ति मात्र है। वह न मौलिक होता है, न जीवन होता है।

ज्ञान स्मृति से भिन्न है, क्योंकि वह यांत्रिक प्रक्रिया नहीं, सचेतन बोध है। ज्ञान स्मृति नहीं है। इसलिए, ऐसे यंत्र कभी विकसित नहीं हो सकते हैं, जिनमें ज्ञान हो। जो कार्य यांत्रिक है, केवल उसे ही यंत्रों से कराया जा सकता है, और जो यांत्रिक है, उसे ही विचार मान लेने से मनुष्य एक यंत्र-मात्र ही रह जाता है। स्मृति को ही विचार मान लेना, मनुष्य की यांत्रिकता को घोषित करना है।

प्रज्ञा तो यांत्रिक नहीं है किन्तु पांडित्य सदा यांत्रिक रहा है। इसलिए तथाकथित पंडितों के मस्तिष्क से ज्यादा जड़ और विचारहीन मस्तिष्क खोजना कठिन है। समस्या के पूर्व ही उनके समाधान तैयार रहते हैं। प्रश्न के पूर्व ही उनके उत्तर तय हैं। उन्हें सोचना नहीं, मात्र दुहराना है।

ऐसे ही जड़ मस्तिष्क सदा से शास्त्रों को दुहराते रहे हैं और शास्त्रों के नाम पर लड़ते-मरते भी रहे हैं। इन दुहरानेवाले मस्तिष्क को विचार विद्रोह प्रतीत होता है। उनका आग्रह विचार के विरोध में सदैव विश्वास के लिए रहा है।

मस्तिष्क की यांत्रिकता से विचार का तो मेल नहीं बैठता, लेकिन विश्वास से उसकी पटरी खूब बैठ जाती है। अंधे का अंधे से मिलन सुखद हो तो कोई आश्चर्य नहीं। न स्मृति के पास आँखें है, न विश्वास के पास, इसलिए स्मृति-

निर्भर विचारणा विश्वास का सहारा मांगती है, और विश्वास स्मृति-निर्भर पुनरुक्ति से परिपुष्ट होता है।

आज की ही बात है। सुबह-सुबह ही ऐसे एक ज्ञानी ने दर्शन दिए। गीता उन्हें कंठस्थ है। चालीस वर्षों से गीता का पाठ करते हैं। अब सेवा से निवृत्त हुए हैं तो अहर्निश गीता का पारायण चल रहा है। उनकी बात-बात में गीता आ जाती है। चित्त को उसके शब्दों से खुद भर लिया है। प्रसंग हो या नहीं, उन शब्दों को दुहराते रहते हैं।

बहुत अशांत हैं। कलहप्रिय हैं। जहां बैठते हैं वहीं विवाद कर बैठते हैं। लोग उनके ज्ञान से भय खाते हैं। उनके उपदेशों से बचते हैं। उनके हाथों में पड़ जाते हैं तो निकल जाते हैं। उन्हें कृष्ण के वचन समझ में आते हैं, लेकिन लोगों का उनके ज्ञान के प्रति जो भय है, वह दिखाई नहीं देता। स्वयं की अशांति के कारण भी दिखाई नहीं देते।

यद्यपि जगत् में कैसे शांति होगी, इसके लिए रामबाण नुस्खे वे उंगलियों पर बता देते हैं। यह है शास्त्रों को पराए विचारों को दुहराने वाले चित्त की जड़ता। ऐसे स्वयं की तो कोई समस्या हल नहीं होती है, और फिर जब अशांत चित्त व्यक्ति शास्त्रों को पकड़ लेते हैं तो शास्त्र भी संघर्ष, संगठन और हिंसा के कारण बन जाते हैं।

क्या यह संभव है कि बुद्ध और क्राइस्ट, महावीर और जरथुस्त्र के शब्द मनुष्य को मनुष्य से तोड़नेवाले बनें? क्या वे हिंसा और वैमनस्य के आधार हो सकते हैं? लेकिन चित्त की जड़ता उन्हें भी शोषण और संघर्ष, हिंसा और युद्ध में परिणत कर लेती है। धर्मों का इतिहास मनुष्य के मन की जड़ता के अतिरिक्त और किस बात की गवाही देता है?

शास्त्रीय मस्तिष्क को मैं जड़ मस्तिष्क कह रहा हूं? क्यों? क्योंकि जीवन की समस्याएँ नित्य बदल जाती हैं, लेकिन उसके समाधान नहीं बदलते। दुनिया मार्क्स पर आ जावे तो भी वह मनु पर ही बैठा रहता है। फिर दुनिया मार्क्स से आगे निकल जाती है लेकिन वह मार्क्स को ही पकड़कर बैठ जाता है। बाईबिल छोड़ता है तो कैपिटल[1] पकड़ लेता है, लेकिन बिना शास्त्र को पकड़े उसकी गति नहीं।

जीवन को समझना उसे मूल्यवान नहीं मालूम होता। उसे तो सिद्धान्तों

१. कैपिटल—मार्क्स का लिखा हुआ साम्यवाद-सिद्धांत का प्रधान स्रोतग्रंथ

और शब्दों से प्रेम होता है। यह भी इसलिए कि जीवन को समझने के लिए विचार चाहिए जबकि शास्त्र को पकड़ने में विचार की कोई आवश्यकता नहीं। स्मृति को किसी भी चीज से भर लेना बड़ी सरल बात है किन्तु वह प्रौढ़ बुद्धि का लक्षण नहीं। प्रौढ़ता का लक्षण हैं : विचार, समस्याओं को देखने की क्षमता। शास्त्रीय बुद्धि को समस्याएँ दिखाई ही नहीं देतीं। समस्याएँ तो उन खूँटियों की भाँति होती हैं, जिन पर अपने बँधे-बँधाए, रटे-रटाए सिद्धान्तों को टाँगने में उसे मजा आता है।

शास्त्रीय बुद्धि समस्या के अनुकूल समाधान नहीं, वरन् अपने पूर्वनिर्धारित समाधान के अनुकूल ही समस्या को देखती है और यह न देखने से भी बदतर है। क्योंकि इस भाँति थोपे गए समाधान पुरानी समस्याओं को तो मिटाते नहीं, उल्टे और नई समस्याएँ खड़ी कर देते हैं।

अप्रौढ़ दृष्टि उस पागल दर्जी की ही भाँति होती है, जो बने-बनाए कपड़े को खींचता है और जब वे किसी के शरीर पर ठीक नहीं आते हैं तो उससे कहता है कि निश्चय ही आपके शरीर में ही कहीं कोई भूल है। पागल दर्जी के कपड़ों में कोई भूल कैसे हो सकती है? पंडितों के शास्त्रों में भी कोई भूल कैसे हो सकती है? भूल है तो जरूर जीवन में है। शास्त्रों में नहीं, बदलाहट करनी है तो जीवन में करनी है।

इस जड़तापूर्ण चित्त-दशा के कारण जीवन व्यर्थ ही उलझता गया है। हजारों साल के शास्त्रों और परंपराओं के बोझ के कारण हम कुछ भी हल करने में क्रमशः असमर्थ होते गए हैं। परंपराओं ने—मृत परंपराओं ने—हमारे मन को सब ओर से घेरकर बिलकुल ही पंगु कर दिया है। किसी भी समस्या का जीवन्त हल खोजना तो दूर, उस समस्या को उसके मूल और नग्न रूप में देखना ही करीब-करीब असंभव हो गया है। जीवन उलझता जाता है और हम तोतों की भाँति रटे हुए सूत्र दोहराते जा रहे हैं।

क्या उचित नहीं है कि मनुष्य का मन मुर्दा समाधानों से मुक्त हो? क्या उचित नहीं है कि हम सदा अतीत की ओर देखने की दृष्टि से सावधान हों? और क्या उचित नहीं है कि हम स्मृति से ऊपर उठकर विचार की शक्ति को जगावें?

विचार-शक्ति के जागरण के लिए विचारों का भार कम से कम होना आवश्यक है। स्मृति बोझ नहीं होनी चाहिए। जीवन जो समस्याएँ खड़ी

निर्भर विचारणा विश्वास का सहारा माँगती है, और विश्वास स्मृति-निर्भर पुनरुक्ति से परिपुष्ट होता है।

आज की ही बात है। सुबह-सुबह ही ऐसे एक ज्ञानी ने दर्शन दिए। गीता उन्हें कंठस्थ है। चालीस वर्षों से गीता का पाठ करते हैं। अब सेवा से निवृत्त हुए हैं तो अहर्निश गीता का पारायण चल रहा है। उनकी बात-बात में गीता आ जाती है। चित्त को उसके शब्दों से खुद भर लिया है। प्रसंग हो या नहीं, उन शब्दों को दुहराते रहते हैं।

बहुत अशांत हैं। कलहप्रिय हैं। जहाँ बैठते हैं वहीं विवाद कर बैठते हैं। लोग उनके ज्ञान से भय खाते हैं। उनके उपदेशों से बचते हैं। उनके हाथों में पड़ जाते हैं तो निकल जाते हैं। उन्हें कृष्ण के वचन समझ में आते हैं, लेकिन लोगों का उनके ज्ञान के प्रति जो भय है, वह दिखाई नहीं देता। स्वयं की अशांति के कारण भी दिखाई नहीं देते।

यद्यपि जगत् में कैसे शांति होगी, इसके लिए रामबाण नुस्खे वे उँगलियों पर बता देते हैं। यह है शास्त्रों को पराए विचारों को दुहराने वाले चित्त की जड़ता। ऐसे स्वयं की तो कोई समस्या हल नहीं होती है, और फिर जब अशांत चित्त व्यक्ति शास्त्रों को पकड़ लेते हैं तो शास्त्र भी संघर्ष, संगठन और हिंसा के कारण बन जाते हैं।

क्या यह संभव है कि बुद्ध और क्राइस्ट, महावीर और जरथुस्त्र के शब्द मनुष्य को मनुष्य से तोड़नेवाले बनें ? क्या वे हिंसा और वैमनस्य के आधार हो सकते हैं ? लेकिन चित्त की जड़ता उन्हें भी शोषण और संघर्ष, हिंसा और युद्ध में परिणत कर लेती है। धर्मों का इतिहास मनुष्य के मन की जड़ता के अतिरिक्त और किस बात की गवाही देता है ?

शास्त्रीय मस्तिष्क को मैं जड़ मस्तिष्क कह रहा हूँ ? क्यों ? क्योंकि जीवन की समस्याएँ नित्य बदल जाती हैं, लेकिन उसके समाधान नहीं बदलते। दुनिया मार्क्स पर आ जावे तो भी वह मनु पर ही बैठा रहता है। फिर दुनिया मार्क्स से आगे निकल जाती है लेकिन वह मार्क्स को ही पकड़कर बैठ जाता है। बाईबिल छोड़ता है तो कैपिटल[1] पकड़ लेता है, लेकिन बिना शास्त्र को पकड़े उसकी गति नहीं।

जीवन को समझना उसे मूल्यवान नहीं मालूम होता। उसे तो सिद्धान्तों

१. कैपिटल—मार्क्स का लिखा हुआ साम्यवाद-सिद्धांत का प्रधान श्रोतग्रंथ

और शब्दों से प्रेम होता है। यह भी इसलिए कि जीवन को समझने के लिए विचार चाहिए जबकि शास्त्र को पकड़ने में विचार की कोई आवश्यकता नहीं। स्मृति को किसी भी चीज से भर लेना बड़ी सरल बात है किन्तु वह प्रौढ़ बुद्धि का लक्षण नहीं। प्रौढ़ता का लक्षण हैं : विचार, समस्याओं को देखने की क्षमता। शास्त्रीय बुद्धि को समस्याएँ दिखाई ही नहीं देतीं। समस्याएँ तो उन खूँटियों की भाँति होती हैं, जिन पर अपने बँधे-बँधाए, रटे-रटाए सिद्धान्तों को टाँगने में उसे मजा आता है।

शास्त्रीय बुद्धि समस्या के अनुकूल समाधान नहीं, वरन् अपने पूर्वनिर्धारित समाधान के अनुकूल ही समस्या को देखती है और यह न देखने से भी बदतर है। क्योंकि इस भाँति थोपे गए समाधान पुरानी समस्याओं को तो मिटाते नहीं, उल्टे और नई समस्याएँ खड़ी कर देते हैं।

अप्रौढ़ दृष्टि उस पागल दर्जी,की ही भाँति होती है, जो बने-बनाए कपड़े को खींचता है और जब वे किसी के शरीर पर ठीक नहीं आते हैं तो उससे कहता है कि निश्चय ही आपके शरीर में ही कहीं कोई भूल है। पागल दर्जी के कपड़ों में कोई भूल कैसे हो सकती है? पंडितों के शास्त्रों में भी कोई भूल कैसे हो सकती है? भूल है तो जरूर जीवन में है। शास्त्रों में नहीं, बदलाहट करनी है तो जीवन में करनी है।

इस जड़तापूर्ण चित्त-दशा के कारण जीवन व्यर्थ ही उलझता गया है। हजारों साल के शास्त्रों और परंपराओं के बोझ के कारण हम कुछ भी हल करने में क्रमशः असमर्थ होते गए हैं। परंपराओं ने—मृत परंपराओं ने—हमारे मन को सब ओर से घेरकर बिलकुल ही पंगु कर दिया है। किसी भी समस्या का जीवन्त हल खोजना तो दूर, उस समस्या को उसके मूल और नग्न रूप में देखना ही करीब-करीब असंभव हो गया है। जीवन उलझता जाता है और हम तोतों की भाँति रटे हुए सूत्र दोहराते जा रहे हैं।

क्या उचित नहीं है कि मनुष्य का मन मुर्दा समाधानों से मुक्त हो? क्या उचित नहीं है कि हम सदा अतीत की ओर देखने की दृष्टि से सावधान हों? और क्या उचित नहीं है कि हम स्मृति से ऊपर उठकर विचार की शक्ति को जगावें?

विचार-शक्ति के जागरण के लिए विचारों का भार कम से कम होना आवश्यक है। स्मृति बोझ नहीं होनी चाहिए। जीवन जो समस्याएँ खड़ी

करे, उन्हें स्मृति के माध्यम से नहीं, सीधे और वर्तमान में देखना चाहिए। शास्त्रों में देखने की वृत्ति छोड़नी चाहिए। जीवन और स्वयं के बीच शास्त्रों को लाना अनावश्यक ही नहीं, घातक भी है। स्वयं का संपर्क समस्या से जितना सीधा होता है, उतना ही ज्यादा हम उस समस्या को समझने में समर्थ हो जाते हैं और वह समझ ही अंततः उस समस्या का समाधान बनती है। समस्या के समाधान के लिए समस्या को उसकी समग्रता में जानना और जीना पड़ता है। फिर चाहे वह समस्या किसी भी तल पर क्यों न हो। उसके विरोध में कोई सिद्धान्त खड़ा कर के कभी भी कोई सुलझाव नहीं लाया जा सकता, बल्कि व्यक्ति और भी द्वन्द्व में पड़ता है। वस्तुतः समस्या में ही समाधान भी छिपा होता है। यदि हम शांत और निष्पक्ष मन से समस्या में खोजेंगे तो अवश्य ही उसे पा सकते हैं।

विचार-शक्ति पराए विचारों से मुक्त होते ही जागने लगती है। जब तक पराए विचारों से काम चलाने की वृत्ति होती है तब तक स्वयं की शक्ति के जागरण का कोई हेतु ही नहीं होता। विचारों की बैशाखियां छोड़ते ही स्वयं के पैरों से चलने के अतिरिक्त और कोई विकल्प न होने से मृत पड़े पैरों में अनायास ही रक्त-संचार होने लगता है। फिर चलने से ही चलना आता है।

विचारों से मुक्त हों और देखें। क्या देखेंगे ? देखेंगे कि स्वयं की अंतः सत्ता से कोई नई ही शक्ति जाग रही है। किसी अभिनव और अपरिचित ऊर्जा का आविर्भाव हो रहा है। जैसे चक्षुहीन को अनायास ही चक्षु मिल गए हों, ऐसा ही लगेगा, या जैसे अँधेरे गृह में अचानक ही दीया जल गया हो, ऐसा लगेगा। विचार की शक्ति जागती है तो अंतर्हृदय आलोक से भर जाता है। विचार-शक्ति का उद्भव होता है, तो जीवन में आँखें मिल जाती हैं। और जहाँ आलोक है, वहाँ आनन्द है और जहाँ आँख है, वहाँ मार्ग निष्कंटक है। जो जीवन अविचार में दुख हो जाता है वही जीवन विचार के आलोक में संगीत बन जाता है।

जीयें और जानें

मैं मनुष्य को जड़ता में डूबा हुआ देखता हूँ। उसका जीवन बिल्कुल यांत्रिक बन गया है। गुरजिएफ ने ठीक ही उसके लिए मानव यंत्र का प्रयोग किया है। हम जो भी कर रहे हैं, वह कर नहीं रहे हैं, हमसे हो रहा है। हमारे कर्म सचेतन और सजग नहीं हैं। वे कर्म न होकर केवल प्रतिक्रियाएँ हैं।

मनुष्य से प्रेम होता है, क्रोध होता है, वासनाएँ प्रवाहित होती हैं। पर ये सब उसके कर्म नहीं हैं, अचेतन और यांत्रिक प्रवाह हैं। वह इन्हें करता नहीं है, ये उससे होते हैं। वह इनका कर्त्ता नहीं है, वरन् उसके द्वारा किया जाता है।

इस स्थिति में मनुष्य केवल एक अवसर है, जिसके द्वारा प्रकृति अपने कार्य करती है। वह केवल एक उपकरण मात्र है। उसकी अपनी कोई सत्ता, अपना कोई होना नहीं है। वह सचेतन जीवन नहीं, केवल अचेतन यांत्रिकता है।

यह यांत्रिक जीवन मृत्यु-तुल्य है।

जड़ता और यांत्रिकता से ऊपर उठने से ही वास्तविक जीवन प्रारंभ होता है।

एक युवक कल मिलने आए थे। वे पूछते थे कि जीवन का किस दिशा में उपयोग करूँ कि बाद में पछताना न पड़े। मैंने कहा : "जीवन का एक ही उपयोग है कि वास्तविक जीवन प्राप्त हो। अभी आप जिसे जीवन जान रहे हैं, वह जीवन नहीं है।"

जिसे अभी जीवन मिला नहीं, उसके सामने उपयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। सत्य-जीवन की उपलब्धि न होना ही जीवन का दुरुपयोग है। उसकी उपलब्धि ही सदुपयोग है। उसका अभाव ही पछताना है। उसका होना ही आनन्द है।

जो स्वयं ही अस्तित्व में न हो, वह कर भी क्या सकता है? जिसकी सत्ता अभी प्रसुप्त है, उससे हो भी क्या सकता है?

जो सोया हुआ है, उसमें एकता नहीं, अनेकता है। महावीर ने कहा है :

"यह मनुष्य बहुचित्तवान है।" सच ही हममें एक व्यक्ति नहीं, अनेक व्यक्तियों का आवास है। हम व्यक्ति नहीं, एक भीड़ है।

और, भीड़ तो कुछ भी निश्चय नहीं कर सकती। क्योंकि वह निर्णय और संकल्प नहीं कर सकती।

इसके पूर्व हम कुछ कर सकें, हमारी सत्ता का जागरण, हमारी आत्मा, हमारे व्यक्ति का होश में आना आवश्यक है। व्यक्तियों की अराजक भीड़ की जगह व्यक्ति हो, बहुचित्तता की जगह चैतन्य हो, तो हममें प्रतिकर्म की जगह कर्म का जन्म हो सकता है। जुंग ने इसे ही व्यक्ति-केंद्र-उपलब्धि कहा है।

सजग व्यक्ति के अभाव में जीवन के समस्त प्रयास व्यर्थ हो जाते है, क्योंकि न तो उनमें एकसूत्रता होती है और न एक दिशा होती है, उल्टे वे स्व–विरोधी होते हैं। जो एक निर्मित करता है, उसे दूसरा नष्ट कर देता है। वह स्थिति ऐसी है जैसे किसी ने एक ही बैलगाड़ी में चारों ओर बैल जोत लिये हों और चालक सोया है, फिर भी कहीं पहुँचने की आशा करता है। मनुष्य का साधारण जीवन ऐसा ही है। उसमें लगता है कि गति हो रही है, लेकिन कोई गति नहीं होती। सब प्रयास निद्रित है और इसलिए शक्ति के अपव्यय से अधिक कुछ नहीं है। मनुष्य कहीं पहुँच तो नहीं पाता पर केवल शक्ति-रिक्त होते जाता है, और जिसे जीवन समझा था वह केवल एक क्रमिक और धीमा आत्मघात सिद्ध होता है।

जिस दिन जन्म होता है, उस दिन ही मृत्यु प्रारम्भ हो जाती है। वह आकस्मिक नहीं आती है। वह जन्म का ही विकास है।

जो वास्तविक जीवन की प्राप्ति में नहीं लगे हैं, उन्हें जानना चाहिए कि वे केवल मर रहे हैं। जिन्होंने सत्य-जीवन की ओर अपने को गतिवान नहीं किया है, मृत्यु के अतिरिक्त उनका भविष्य और क्या हो सकता है।

जीवन के दो अंत हो सकते हैं : जीवन या मृत्यु। या तो हम और वृहत्तर तथा विराट जीवन में पहुँच सकते है या समाप्त हो सकते हैं।

स्मरण रहे कि जो अंत हो सकता है, वह आरम्भ से ही मौजूद होता है। आरम्भ में जो नहीं है, वह अंत में भी नहीं हो सकता। अंत प्रकट होकर वही है, जो कि प्रकट होकर आरम्भ था।

और, तब यदि जीवन के दो अन्त हो सकते है, तो उसमें निश्चय ही आरम्भ से ही दो दिशाएँ और सम्भावनाएँ वर्तमान होनी चाहिए। उसमें

जीवन और मृत्यु दोनों सन्निहित हैं। जड़ता मृत्यु का वीज है। चैतन्य जीवन का मनुष्य इनका द्वैत है।

मनुष्य जीवन और मृत्यु का मिलन है। मनुष्य चेतना और जड़ता का संगम है।

मनुष्य यंत्र भी है, पर उसमें कुछ ऐसा है, जो यंत्र नहीं है। उसमें अयांत्रिकता भी है। वह तत्त्व जो जड़ता और यांत्रिकता को समझ पाता है, और उसके प्रति सजग और जागरूक हो पाता है वही तत्त्व उसकी अयांत्रिकता है। इस अयांत्रिक दिशा को पकड़ कर ही जीवन तक पहुँचा जाता है।

मैं जो अपने में चेतना पा रहा हूँ, यह वोध पा रहा हूँ कि 'मैं हूँ', यह वोधकिरण ही मुझे सत्ता में ले जाने का मार्ग वन सकती है। साधारणत: यह किरण वहुत धूमिल और अस्पप्ट है।

पर वह अवश्य है और उसका होना ही महत्त्वपूर्ण है। अँधेरे में वह धूमिल किरण ही प्रकाश तक पहुँच सकने की क्षमता की सूचना और संकेत है। उसका होना ही निकट ही प्रकाश-स्रोत के होने का सुसमाचार है।

मैं तो एक किरण के होने से ही सूरज के होने के विश्वास से भर जाता हूँ। उसे जानकर ही क्या सूरज को नहीं जान लिया जाता?

मनुष्य में जो वोधकिरण है वह उसके वुद्धत्व का इंगित है।

मनुष्य में जो होश का मंदा-सा आभास है, वह उसकी सवसे वड़ी संभावना है, वह उसकी सवसे वड़ी संपत्ति है। उससे वहुमूल्य उसमें कुछ भी नहीं है। उसके आधार पर चलकर वह स्वयं तक और सत्ता तक पहुँच सकता है। वह जीवन, वृहत्तर जीवन और व्रह्म की दिशा है।

जो उस पर नहीं हैं, वे उसके विपरीत हैं, क्योंकि तीसरी कोई दिशा ही नहीं है। उस पर या उसके विपरीत दो ही विकल्प हैं। अभी जो आभास है, उसे या तो विनाश की ओर ले जाया जा सकता है या विकास की ओर। या तो वोध से वोधि में जाया जा सकता है या फिर और मूर्च्छा में।

सामान्य जीवन का यांत्रिक वृत्त अपने आप सम्वोध के प्रकाश-शिखरों पर नहीं ले जाता। यह शाश्वत नियम है कि कुछ न करें तो नीचे आना अपने आप हो जाता है, लेकिन ऊपर जाना अपने आप नहीं होता। पतन न कुछ करने से ही हो जाता है, लेकिन उन्नयन नहीं होता। जड़ता अपने आप आ जाती है, जीवन अपने आप नहीं आता। मृत्यु विना वुलाए आ जाती है, पर

शिक्षा का लक्ष्य

मैं आपकी आंखों में देखता हूँ और उनमें घिरे विषाद और निराशा को देखकर मेरा हृदय रोने लगता है। मनुष्य ने स्वयं अपने साथ यह क्या कर लिया है? वह क्या होने की क्षमता लेकर पैदा होता है और क्या होकर समाप्त हो जाता है! जिसकी अन्तरात्मा दिव्यता की उँचाइयाँ छूती, उसे पशुता की घाटियों में भटकते देखकर ऐसा लगता है जैसे किसी फूलों के पौधे में फूल न लगकर पत्थर लग गए हों और जैसे किसी दीए से प्रकाश की जगह अंधकार निकलता हो।

ऐसा ही हुआ है मनुष्य के साथ। इसके कारण ही हम उस सात्विक प्रफुल्लता का अनुभव नहीं करते हैं जो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, और हमारे प्राण तमस के भार से भारी हो गए हैं।

मनुष्य का विषाद, वह जो हो सकता है, उस विकास के अभाव का परिणाम है।

शिक्षा मानवात्मा में जो अन्तर्निहित है उसे अभिव्यक्त करने का माध्यम और उपाय है। कभी सुकरात ने कहा था: "मैं एक दाई की भाँति हूँ। जो तुममें अप्रकट है, मैं उसे प्रकट कर दूंगा।" यह वचन शिक्षा की भी परिभाषा है।

लेकिन मनुष्य में शुभ और अशुभ दोनों ही छिपे हैं। विष और अमृत दोनों ही उसके भीतर हैं। पशु और परमात्मा दोनों का ही उसके अंदर वास है। यही उसकी स्वतंत्रता और मौलिक गरिमा भी है। वह अपने होने को चुनने में स्वतंत्र है।

इसलिए सम्यक् शिक्षा वह है जो उसे प्रभु होने की ओर मार्ग-दर्शन दे सके।

यह भी स्मरणीय है कि मनुष्य यदि अपने साथ कुछ भी न करे तो वह सहज ही पशु से भी पतित हो जाता है। पशु को चुनना हो तो स्वयं को जैसा जन्म से पाया है, वैसा ही छोड़ देना पर्याप्त है। उसके लिए कुछ और विशेष

करने की आवश्यकता नहीं है। वह उपलब्धि सहज और सुगम है। नीचे उतरना हमेशा ही सुगम होता है।

किन्तु ऊपर उठना श्रम और साधना है। वह अध्यवसाय और पुरुषार्थ है। वह संभावना, संकल्प और सतत चेष्टा से ही फलीभूत है। ऊपर उठना एक कला है। जीवन की सबसे बड़ी कला वही है।

प्रभु होने की इस कला को सिखाना शिक्षा का लक्ष्य है।

जीवन शिक्षा का लक्ष्य है, मात्र आजीविका नहीं। जीवन के ही लिए आजीविका का मूल्य है। आजीविका अपने आप में तो कोई अर्थ नहीं रखती है। पर साधन ही, अज्ञानवश अनेक बार, साध्य बन जाते हैं। ऐसा ही शिक्षा में भी हुआ है। आजीविका लक्ष्य बन गई है। जैसे मनुष्य जीने के लिए न खाता हो, वरन् खाने के लिए ही जीता हो। आज की शिक्षा पर यदि कोई विचार करेगा तो यह निष्कर्ष अपरिहार्य है।

क्या मैं कहूँ कि आज की शिक्षा की इस भूल के अतिरिक्त और कोई भूल नहीं है? लेकिन यह भूल बहुत बड़ी है। यह भूल वैसी ही है, जैसे कोई किसी मृत व्यक्ति के सम्बन्ध में कहे कि इस देह में और तो सब ठीक है, केवल प्राण नहीं हैं।

हमारी शिक्षा अभी ऐसा ही शरीर है, जिसमें प्राण नहीं है, क्योंकि आजीविका जीवन की देह मात्र ही है।

शिक्षा तब सप्राण होगी, जब वह आजीविका ही नहीं, जीवन को भी सिखाएगी। जीवन सिखाने का अर्थ है, आत्मा को सिखाना।

मैं सब कुछ जान लूँ, लेकिन यदि स्वयं की ही सत्ता से अपरिचित हूँ, तो वह जानना वस्तुतः जानना नहीं है। ऐसे ज्ञान का क्या मूल्य जिसके केन्द्र पर स्व-ज्ञान न हो? स्वयं में अँधेरा हो, तो सारे जगत् में भरे प्रकाश का भी हम क्या करेंगे?

ज्ञान का पहला चरण स्व-ज्ञान की ही दिशा में उठना चाहिए क्योंकि ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य वही है।

और, व्यक्ति जिस मात्रा में स्व-ज्ञान को जानने लगता है, उसी मात्रा में उसका पशु विसर्जित होता है, और प्रभु की ओर उसके प्राण प्रभावित होते हैं। आत्म-ज्ञान की पूर्णता ही उसे परमात्मा में प्रतिष्ठा देती है।

और, वही प्रतिष्ठा आनन्द और अमृत है। उसे पाकर ही सार्थकता और

कृतार्थता है। मनुष्य उस परम विकास और पूर्णता के बीज ही अपने में लिये हुए है।

जब तक वे बीज विकास को न पा लें, तब तक एक बेचैनी और प्यास उसे पीड़ित करेगी ही। जैसे हम भूमि में कोई बीज बोते हैं, तो जब तक वे अंकुरित होकर सूर्य के प्रकाश को नहीं पा लेते हैं, तब तक उनके प्राण गहन प्रसव-पीड़ा से गुजरते हैं, वैसे ही मनुष्य भी भूमि के अंधकार में दबा हुआ एक बीज है, और जब तक वह भी प्रकाश को उपलब्ध न हो पावे, तब तक उसे भी शांति नहीं है। और यह अशांति शुभ ही है, क्योंकि इससे गुजर कर ही वह शांति के लोक में प्रवेश पायगा।

शिक्षा की यह अशांति तीव्र करनी चाहिए, और शांति का मार्ग और विज्ञान देना चाहिए तभी वह पूर्ण होगी और एक नए मनुष्य का और नई मानवता का जन्म होगा। हमारा सारा भविष्य इसी बात पर निर्भर है। शिक्षा के हाथ में ही मनुष्य का भाग्य है। मनुष्य को यदि मनुष्य के ही हाथों बचाना है तो मनुष्य का पुनर्निर्माण अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा मनुष्य का पशु तो मनुष्य को ही विनष्ट कर देगा। मनुष्य की प्रभु में प्रतिष्ठा ही एक-मात्र बचाव है।

जीवन-संपदा का अधिकार

१: मैं क्या देखता हूं? देखता हूं कि मनुष्य सोया हुआ है। आप सोए हुए हैं। प्रत्येक मनुष्य सोया हुआ है। रात्रि ही नहीं, दिवस भी निद्रा में ही बीत रहे हैं। निद्रा तो निद्रा ही है, किंतु यह तथाकथित जागरण भी निद्रा ही है। आंखों के खुल जाने मात्र से नींद नहीं टूटती। उसके लिए तो अंतस् का खुलना आवश्यक है। वास्तविक जागरण का द्वार अंतस् है। जिसका अंतस् सोया हो, वह जागकर भी जागा हुआ नहीं होता, और जिसका अंतस् जागता है वह सोकर भी सोता नहीं है।

२: जीवन जागरण में है। निद्रा तो मृत्यु का ही रूप है। जागृति का दीया ही हृदय को आलोक से भरता है। निद्रा तो अंधकार है और अंधकार में होना, दुख में, पीड़ा में, संताप में होना है। स्वयं से पूछें कि आप कहां हैं? क्या हैं? यदि संताप में हैं, भय में हैं, दुख और पीड़ा में हैं तो जानें कि अंधकार में हैं, जानें कि निद्रा में हैं। इसके पूर्व कि कोई जागने की दिशा में चले, यह जानना आवश्यक है कि वह निद्रा में है। जो यही नहीं जानता, वह जाग भी नहीं सकता है। क्या कारागृह से मुक्त होने की आकांक्षा के जन्म के लिए स्वयं के कारागृह में होने का बोध जरूरी नहीं है?

३: मैं प्रत्येक से प्रार्थना करता हूं कि वह भीतर झांके। अपने मन के कुएं में देखे। क्या वहां से आंख हटाने की वृत्ति होती है? क्या वहां से भागने का विचार आता है? निश्चय ही यदि वहां से पलायन का ख्याल उठता हो तो जानना कि वहां अंधकार इकट्ठा है। आंखें अंधकार से हटना चाहती हैं और आलोक की ओर उठना चाहती हैं।

४: प्रतिदिन नए-नए मनुष्यों को जानने का मुझे मौका मिलता है। हजारों लोगों को अध्ययन करने का अवसर मिला है। एक बात उन सबमें समान है। वह है दुख। सभी दुखी हैं। सभी पीड़ा में डूबे दिखाई देते हैं। एक घना संताप है, चिन्ता है, जिसमें वे सब जकड़े हुए हैं। इससे वे बेचैन हैं और तड़फड़ा रहे हैं। स्वांस तक लेना कठिन हो रहा है। आसपास दुख ही

दिखाई देता है। हवाओं का—जीवनदायी हवाओं का—तो कोई पता ही नहीं है। क्या ऐसी ही स्थिति आपकी है ? क्या आप भी अपने भीतर घबड़ा देने-वाली घुटन का अनुभव नहीं करते हैं ? क्या आपकी गर्दन को भी चिन्ताएँ नहीं दबा रही हैं और क्या आपके रक्त में भी उनका विष प्रवेश नहीं कर गया है ?

५: अर्थहीनता घर किए हुए है। ऊब से सब दबे हैं और टूट रहे हैं। क्या यही जीवन है ? क्या आप इससे ही तृप्त और संतुष्ट हैं ? यदि यही जीवन है तो फिर मृत्यु क्या होगी ? मित्र, यह जीवन नहीं है। वस्तुतः यही मृत्यु है। जीवन से सब परिचित नहीं हैं। जीवन सर्वथा भिन्न अनुभव है। जानकर ही यह मैं कह रहा हूँ। कभी इस तथाकथित जीवन को ही जीवन मानने की भूल मैंने भी की थी। वह भूल स्वाभाविक है। जब और किसी भाँति के जीवन को व्यक्ति जानता ही नहीं, तो जो उपलब्ध होता है, उसे ही जीवन मान लेता है। यह मानना भी सचेतन नहीं होता। सचेतन होते ही तो मानना कठिन हो जाता है। वस्तुतः अविचार में ही, अबोध में ही, वैसी भूल होती है। स्वयं के प्रति थोड़ा-सा भी विचार उस भूल को तोड़ देता है। जो उपलब्ध है, उसे स्वीकार नहीं, विचार करें। स्वीकार अचेतन है। वह अंधविश्वास है। विचार सचेतन है। उसके द्वारा ही भ्रम-भंग होना प्रारंभ होता है।

६: विचार विश्वास से बिलकुल विरोधी घटना है। विश्वास अचेतन है। उससे जो चलता है वह मात्र जीता ही है, जीवन को उपलब्ध नहीं होता। जीवन को उपलब्ध करने के लिए विश्वास की नहीं, विचार और विवेक की दिशा पकड़नी होती है। विश्वास यानी मानना। विचार यानी खोजना। जानने के लिए मानना घातक है। खोज के लिए विश्वास बाधा है। जो मान लेते हैं, वे जानने की दिशा में चलते ही नहीं। चलने का कोई कारण ही नहीं रह जाता। जानने का काम मानना ही कर देता है। इस भाँति कागज के फूल ही असली फूलों का धोखा दे देते हैं और झूठे काल्पनिक पानी से ही प्यास बुझने को मान लिया जाता है।

७: ज्ञान के मार्ग में विश्वास की वृत्ति सबसे बड़ा अवरोध है। विचार की मुक्ति में विश्वास की ही अड़चन है। विश्वास की जंजीरें ही स्वयं की विचार-शक्ति को जीवन की यात्रा नहीं करने देतीं और उनमें रुका व्यक्ति पानी के घिरे डबरों की भाँति हो जाता है। फिर वह सड़ता है और नष्ट होता है,

दिखाई देता है। हवाओं का—जीवनदायी हवाओं का—तो कोई पता ही नहीं है। क्या ऐसी ही स्थिति आपकी है ? क्या आप भी अपने भीतर घबड़ा देने-वाली घुटन का अनुभव नहीं करते हैं ? क्या आपकी गर्दन को भी चिन्ताएँ नहीं दबा रही हैं और क्या आपके रक्त में भी उनका विष प्रवेश नहीं कर गया है ?

५: अर्थहीनता घर किए हुए है। ऊब से सब दबे हैं और टूट रहे हैं। क्या यही जीवन है ? क्या आप इससे ही तृप्त और संतुष्ट हैं ? यदि यही जीवन है तो फिर मृत्यु क्या होगी ? मित्र, यह जीवन नहीं है। वस्तुतः यही मृत्यु है। जीवन से सब परिचित नहीं हैं। जीवन सर्वथा भिन्न अनुभव है। जानकर ही यह मैं कह रहा हूँ। कभी इस तथाकथित जीवन को ही जीवन मानने की भूल मैंने भी की थी। वह भूल स्वाभाविक है। जब और किसी भाँति के जीवन को व्यक्ति जानता ही नहीं, तो जो उपलब्ध होता है, उसे ही जीवन मान लेता है। यह मानना भी सचेतन नहीं होता। सचेतन होते ही तो मानना कठिन हो जाता है। वस्तुतः अविचार में ही, अबोध में ही, वैसी भूल होती है। स्वयं के प्रति थोड़ा-सा भी विचार उस भूल को तोड़ देता है। जो उपलब्ध है, उसे स्वीकार नहीं, विचार करें। स्वीकार अचेतन है। वह अंधविश्वास है। विचार सचेतन है। उसके द्वारा ही भ्रम-भंग होना प्रारंभ होता है।

६: विचार विश्वास से बिलकुल विरोधी घटना है। विश्वास अचेतन है। उससे जो चलता है वह मात्र जीता ही है, जीवन को उपलब्ध नहीं होता। जीवन को उपलब्ध करने के लिए विश्वास की नहीं, विचार और विवेक की दिशा पकड़नी होती है। विश्वास यानी मानना। विचार यानी खोजना। जानने के लिए मानना घातक है। खोज के लिए विश्वास बाधा है। जो मान लेते हैं, वे जानने की दिशा में चलते ही नहीं। चलने का कोई कारण ही नहीं रह जाता। जानने का काम मानना ही कर देता है। इस भाँति कागज के फूल ही असली फूलों का धोखा दे देते हैं और झूठे काल्पनिक पानी से ही प्यास बुझने को मान लिया जाता है।

७: ज्ञान के मार्ग में विश्वास की वृत्ति सबसे बड़ा अवरोध है। विचार की मुक्ति में विश्वास की ही अड़चन है। विश्वास की जंजीरें ही स्वयं की विचार-शक्ति को जीवन की यात्रा नहीं करने देतीं और उनमें रुका व्यक्ति पानी के घिरे डबरों की भाँति हो जाता है। फिर वह सड़ता है और नष्ट होता है,

लेकिन सागर की ओर दौड़ना उसे संभव नहीं रह जाता। बँधो नहीं, स्वयं को बाँधो नहीं। खोजो, खोजने में ही सत्य-जीवन की प्राप्ति है।

८: जीवन जैसा मिला है, उसपर विश्वास मत कर लेना—उससे संतुष्ट मत हो जाना। वह जीवन नहीं, बल्कि जीवन के विकास और अनुभव की एक संभावना मात्र ही है। एक कहानी मैंने सुनी है। किसी वृद्ध व्यक्ति ने अपने दो पुत्रों की परीक्षा लेनी चाही। मरने के पूर्व वह अपनी संपत्ति का उत्तराधिकारी चुनना चाहता था। उसने गेहूँ के कुछ बीज दोनों को दिए और कहा कि मैं अनिश्चित समय के लिए तीर्थयात्रा पर जा रहा हूँ, तुम इन बीजों को सँभाल कर रखना। पहले पुत्र ने उन्हें जमीन में गाड़कर रख दिया। दूसरे ने उनकी खेती की और उन्हें बढ़ाया। कुछ वर्षों के बाद जब वृद्ध लौटा तो पहले के बीज सड़कर नष्ट हो गए थे और दूसरे ने उन्हें हजारों गुना बढ़ाकर संपदा में परिणत कर लिया था। यही स्थिति जीवन की भी है। जो जीवन हमें मिला है, वह बीजों की भाँति है। उससे ही तृप्त नहीं हो जाना है। बीज तो संभावनाएँ हैं। उन्हें जो वास्तविकताओं में परिवर्तित कर लेता है, वही उनमें छिपी संपदा का मालिक होता है।

९: हम सब जो हैं, वहीं नहीं रुक रहना है, वस्तुतः जो हो सकते हैं, वहाँ तक पहुँचना है। वहीं पहुँचना हमारा वास्तविक होना भी है। फूलों को कभी देखा है ? कभी उनके आनन्द को, कभी उनकी अभिव्यक्ति को विचारा है ? सुबह हम फूलों की एक सुन्दर बगिया में थे। जो मित्र साथ थे, उनसे मैंने कहा : "फूल सुन्दर हैं। स्वस्थ हैं, और सुवास से भरे हैं क्योंकि वे जो हो सकते थे, वही हो गए हैं। उन्होंने अपनी विकास की पूर्णता को पा लिया है। जब तक मनुष्य भी ऐसा ही न हो जाय तब तक उसका जीवन भी सुवास से नहीं भरता है।"

समाधि योग

१: सत्य की खोज की दो दिशाएँ हैं। एक विचार की, एक दर्शन की। विचार का मार्ग चक्रीय है। उसमें गति तो बहुत होती है, पर गन्तव्य कभी भी नहीं आता। वह दिशा भ्रामक और मिथ्या है। जो उसमें पड़ते हैं, वे मतों में ही उलझकर रह जाते हैं। मत और सत्य भिन्न बातें हैं। मत बौद्धिक धारणा है, जबकि सत्य समग्र प्राणों की अनुभूति में बदल जाते हैं। तार्किक हवाओं के रुख पर उनकी स्थिति निर्भर करती है, उनमें कोई थिरता नहीं होती। सत्य परिवर्तित नहीं होता है। उसकी उपलब्धि शाश्वत और सनातन में प्रतिष्ठा देती है।

२: विचार का मार्ग उधार है। दूसरों के विचारों को ही उसमें निज की संपत्ति मानकर चलना होता है। उनके ही ऊहापोह और नए-नए संयोगों को मिलाकर मौलिकता की आत्मवंचना पैदा की जाती है, जबकि विचार कभी भी मौलिक नहीं हो सकते हैं। दर्शन ही मौलिक होता है, क्योंकि उसका जन्म स्वयं की अंतर्दृष्टि से होता है।

३: जो भी ज्ञात है, वह अज्ञात में नहीं ले जाता है। सत्य अज्ञात है तो ज्ञात विचार उस तक पहुँचने की सीढ़ियाँ नहीं बन सकते हैं। उनके परित्याग से ही सत्य में प्रवेश होता है। निर्विचार चैतन्य के आकाश में ही सत्य के सूर्य के दर्शन होते हैं।

४: मनुष्य चित्त ऐंद्रिक अनुभवों को संग्रहित कर लेता है। ये सभी अनुभव बाह्य जगत् के होते हैं, क्योंकि इंद्रियाँ केवल उसे ही जानने में समर्थ हैं जो बाहर है। स्वयं के भीतर जो है, वहाँ तक इंद्रियों की कोई पहुँच नहीं है। इन अनुभवों की सूक्ष्म तरंगें ही विचार की जन्मदात्री हैं। इसलिए विचार, विज्ञान की खोज में तो सहयोगी हो सकता है, किन्तु परम सत्य के अनुसंधान में नहीं। स्वयं के आंतरिक केन्द्र पर जो चेतना है, विचार के द्वारा उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह तो इंद्रियों के सदा पार्श्व में ही है।

५: यह स्मरण रखना आवश्यक है कि विचारों का आगमन बाहर से होता

है। वे विजातीय तत्त्व हैं। उनसे स्वयं की सत्ता उद्घाटित नहीं, वरन् और आच्छादित ही होती है। उनकी धुंध और धुआँ जितना गहरा होता है, उतना ही स्व-सत्ता में प्रवेश कठिन और दुर्गम हो जाता है। जो स्वयं को नहीं जानता है, वह सत्य को कैसे जान सकता है? सत्य को जानने का द्वार स्वयं से होकर ही आता है, और कोई दूसरा द्वार भी नहीं है।

६: सत्य की बौद्धिक विचार-धारणाओं में पड़े रहना ऐसे ही है, जैसे कोई अंधा व्यक्ति प्रकाश का चिन्तन करता रहे। उसका सारा चिन्तन व्यर्थ ही होगा, क्योंकि प्रकाश सोचा नहीं, देखा जाता है। उसके लिए विचार नहीं, आँखों का उपचार आवश्यक है। उस दिशा में किसी विचारक की नहीं, चिकित्सक की सलाहें ही उपादेय हो सकती हैं।

७: विचार चिन्तन है, दर्शन चिकित्सा है। प्रश्न प्रकाश का नहीं, सदा ही आँखों का है। यहीं तत्त्व चिन्तन और योग विभिन्न दिशाओं के यात्री हो जाते हैं। तत्त्व चिन्तन अंधों द्वारा प्रकाश का विचार और विवेचना है, जबकि योग आँखें देता है और सत्य के दर्शन की सामर्थ्य और पात्रता उत्पन्न करता है।

८: योग समाधि का विज्ञान है। चित्त की शून्य और पूर्ण जाग्रत अवस्था को मैं समाधि कहता हूँ। विषयों की दृष्टि से चित्त जब शून्य होता है और विषयी की दृष्टि से पूर्ण जाग्रत, तब समाधि उपलब्ध होती है। समाधि सत्य के लिए चक्षु है।

९: हमारा चित्त साधारणतः विषयों, विचारों और उनके प्रति सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं से आच्छन्न रहता है। इन अशान्त लहरों की क्रमशः एक मोटी दीवार बन जाती है। यही दीवार हमें स्वयं के बाहर रखती है। सूर्य जैसे सागर पर अपनी उत्तप्त किरणें फेंककर ऐसे बादल पैदा कर लेता है, जो उसे ढाँकने और आवृत्त करने में समर्थ हो जाते हैं, वैसे ही मनुष्य-चेतना भी विषयों के संसर्ग में से विचार प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न कर लेती है और फिर उन्हीं में भटक जाती है। अपने ही हाथों से अपनी सत्ता तक पहुँचने के द्वार बन्द करने के लिए मनुष्य स्वतंत्र है।

१०: किन्तु जो अपने पैरों में अपने हाथ से बेड़ियाँ डालने में समर्थ होता है, वह उन्हें तोड़ने की क्षमता भी अवश्य ही रखता है। स्वतंत्रता हमेशा दोहरी होती है। बनाने की शक्ति में मिटाने की शक्ति भी अवश्य ही अन्तर्निहित होती है। इस सच्चाई को ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है।

११: स्वयं को या सत्य को पाने जो चलता है, उसे विजातीय प्रभावों को दूर करने के लिए उनकी दीवार पर दो बिन्दुओं से आक्रमण करना होता है। एक को मैं जागरूकता के लिए आक्रमण कहता हूँ, और दूसरे को शून्यता के लिए। इन दोनों की जहाँ पूर्णता होती है और संगम होता है, वहाँ समाधि फलित होती है।

१२: जागरूकता के लिए कार्यों या विचारों में अपनी मूर्च्छा और प्रमत्तता को छोड़ना पड़ता है। कोई भी कर्म या कोई भी विचार सोई-सी अवस्था से नहीं, परिपूर्ण सजगता से होना चाहिए। सतत ऐसी धारणा करने पर स्वयं में साक्षी का जन्म होता है। जागरूकता के लिए निरंतर सचेत रहने और अपनी अर्धनिद्रा-सी चित्त-दशा पर आघात करने से स्वभावतः ही प्रसुप्त प्रज्ञा में जागरण प्रारम्भ हो जाता है, फिर धीरे-धीरे एक बोध-चेतना सहज ही साथ रहने लगती है। यहाँ तक कि निद्रा में भी उसका साथ नहीं छूटता है। यह पहला आक्रमण है।

१३: दूसरा सहयोगी आक्रमण शून्यता के लिए करना होता है। यह स्मरण रखना है कि चित्त जितना कम स्पंदित और आन्दोलित हो, उतना ही अच्छा है। ऐसे विचारों और भावों में स्वयं को पड़ने से रोकना पड़ता है, जिनका परिणाम चित्त को अशांत करता है। चित्त की शांति को वैसे ही सँभालना पड़ता है, जैसे कोई पथिक रात्रि के अंधकार में आँधियों से अपने दीए को बचाकर चलता हो। ऐसे कर्म, ऐसे विचार या ऐसी वाणी के प्रति सचेत होना होता है, जो चित्त की झील पर लहरें पैदा करें और जिससे विक्षोभ उत्पन्न होता हो।

१४: दोनों आक्रमण सहयोगी आक्रमण हैं और एक के साधने से दूसरे में सहायता मिलती है। जागरूकता साधने से शून्यता आती है और शून्यता साधने से जागरूकता आती है। उन दोनों में कौन महत्त्वपूर्ण है, यह कहना कठिन है। उनका संबंध मुर्गी-अंडे के सम्बन्ध-जैसा है।

१५: शून्यता और जागरूकता जब पूर्ण हो जाती है तो चित्त एक ऐसी क्रान्ति से गुजरता है जिसकी साधारणतः हमें कोई कल्पना भी नहीं हो सकती थी। उस परिवर्तन से बड़ा कोई परिवर्तन मनुष्य-जीवन में नहीं है। वह क्रांति आमूल है और उसके द्वारा सारा ही जीवन रूपांतरित हो जाता है। अंधे को अनायास आँख मिल जाने के प्रतीक से ही उसे समझाया जा सकता है।

१६: इस क्रांति के द्वारा व्यक्ति स्वयं में प्रतिष्ठित होता है और अनिर्वचनीय आलोक का अनुभव करता है। इस आलोक में वह अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को जानता है। मृत्यु मिट जाती है और अमृत के दर्शन होते हैं। अंधकार विलीन हो जाता है और सत्य से मिलन होता है। वास्तविक जीवन की शुरुआत इस अनुभूति के बाद ही होती है। उसके पूर्व हम मृतकों के ही समान हैं। जीवन-सत्य को जो नहीं जानता है, उसे जीवित कहना बहुत अधूरे अर्थों में ही सत्य होता है।

जीवन की अदृश्य जड़ें

१: किस संबंध में आपसे बातें करूँ ! जीवन के संबंध में ? शायद यही उचित होगा, क्योंकि जीवित होते हुए भी जीवन से हमारा संबंध नहीं है। यह तथ्य कितना विरोधाभासी है ? क्या जीवित होते हुए भी यह हो सकता है कि जीवन से हमारा संबंध न हो ? यह हो सकता है। न केवल हो ही सकता है बल्कि ऐसा ही है भी। जीवित होते हुए भी, जीवन भूला हुआ है। शायद हम जीने में इतने व्यस्त हैं कि जीवन का विस्मरण ही हो गया है।

२: वृक्षों को देखता हूँ तो विचार आता है कि क्या उन्हें अपनी जड़ों का पता होगा ? पर वृक्ष तो वृक्ष हैं, मनुष्य को ही अपनी जड़ों का पता नहीं। जड़ों का ही पता न हो तो जीवन से सम्बन्ध कैसे होगा ? जीवन तो जड़ों में है—अदृश्य जड़ों में। दृश्य के प्राण अदृश्य में होते हैं। जो दिखाई पड़ता है, उसका जीवन-स्रोत उनमें होता है जो दिखाई नहीं पड़ता है। दृश्य को अदृश्य धारण किए हुए है। जब तक यह अनुभव न हो तब तक जीवित होते हुए भी जीवन से संबंध नहीं होता है।

३: जीवन से संबंधित होने के लिए जीवन मिल जाना ही पर्याप्त नहीं। वह भूमिका तो है, किन्तु वही सब कुछ नहीं। उसमें संभावनाएँ तो हैं, लेकिन वही पूर्णता नहीं है। उससे यात्रा तो शुरू हो सकती है, लेकिन उस पर ही ठहरा नहीं जा सकता है। पर कितने ही लोग हैं जो प्रस्थान बिन्दु को ही गन्तव्य मानकर रुक जाते हैं।

शायद अधिकांशत: यही होता है। बहुत कम ही व्यक्ति हैं जो प्रस्थान बिन्दु में, और पहुँचने की मंजिल में भेद करते हों और उस भेद को जीते हों। कुछ लोग शायद भेद कर लेते हैं, पर उस भेद को जीते नहीं। उसका भेद, मात्र बौद्धिक होता है और स्मरण रहे कि बौद्धिक समझ कोई समझ नहीं। समझ जीवन के अस्तित्व के अनुभव से आवे तभी परिणामकारी होती है। हृदय की गहराई से और अनुभव की तीव्रता से ही वह ज्ञान आता है जो व्यक्ति को बदलता है, नया करता है।

बुद्धि तो उधार विचारों को ही अपना समझने की भ्रांति में पड़ जाती है। बुद्धि की संवेदना है ही बहुत सतही, जैसे सागर की सतह पर उठी लहरों का न तो कोई स्थायित्व होता है और न कोई दृढ़ता होती है। उनका बनना-मिटना चलता ही रहता है। सागर का अंतस्थल न तो उससे प्रभावित होता है और न ही परिवर्तित होता है। ऐसी ही स्थिति बुद्धि की भी है।

४: बुद्धि से नहीं, अनुभव से, अस्तित्व से तथा स्वयं की सत्ता से यह बोध आना चाहिए कि जन्म और जीवन में भेद है। चलने और पहुँचने में अन्तर है। जन्म प्रारंभ है, अंत नहीं। यह दृष्टि न जगे तो जन्म को ही जीवन मान लिया जाता है। फिर जो जन्म को ही जीवन जानता और मानता है, अनिवार्यत: उसे मृत्यु को ही अन्त और पूर्णता भी माननी पड़ती है! जन्म को जीवन मानने की भूल से ही मृत्यु को स्वयं की परिसमाप्ति मानने की भ्रांति का भी जन्म होता है। वह पहली भूल की ही सहज निष्पत्ति है। वह उसका ही विकास और निष्कर्ष है। जन्म से जो बँधे हैं, वे मृत्यु से भी भयभीत होंगे ही। मृत्यु-भय जन्म से बँधे होने की ही दूरगामी प्रतिध्वनि है।

५: वस्तुत:, हम जिसे जीवन कहते हैं, वह जीवन कम और जीवित मृत्यु ही ज्यादा है। शरीर से ऊपर और शरीर से भिन्न जिसने स्वयं को नहीं जाना, वह कहने मात्र को ही जीवित है। जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् जिसे स्वयं का होना अनुभव नहीं होता, वह जीवित नहीं है। उसे जन्म के बाद और मृत्यु के पूर्व भी जीवन का अनुभव नहीं होगा, क्योंकि जीवन का अनुभव तो अखंड और अविच्छिन्न है। ऐसे व्यक्ति ने जन्म ही को जीवन मान लिया है। सच तो यही है कि उसने अभी जन्म ही पाया है, जीवन नहीं। जन्म बाह्य घटना है, जीवन आंतरिक। जन्म संसार है, जीवन परमात्मा। जन्म जीवन तो नहीं है लेकिन जीवन में वह गति का द्वार हो सकता है। लेकिन साधारणत: तो वह मृत्यु का ही द्वार सिद्ध होता है। उस पर ही छोड़ देने से ऐसा होता है। साधना जन्म को जीवन बना सकती है। मृत्यु विकसित हुआ जन्म ही है। अचेतन और मूर्च्छित जीना मृत्यु में ले जायगा—सचेतन और अमूर्च्छित जीना जीवन में। अमूर्च्छित जीवन को ही मैं साधना कहता हूँ। साधना से जीवन उपलब्ध होता है। वही धर्म है।

६: मैं बूढ़ों को देखता हूँ और बच्चों को देखता हूँ तो मुझे जन्म तथा मृत्यु की दृष्टि से तो उनमें भेद दिखाई पड़ता है लेकिन जीवन की दृष्टि से नहीं।

मृत्योन्मुख स्थिति को भी स्पष्ट कर देते हैं। स्वयं की इस संकट की स्थिति में घिरा जानकर ही जीवन को पाने की आकांक्षा का उद्भव होता है। जैसे कोई जाने कि वह जिस घर में बैठा है उसमें आग लगी हुई है और फिर उस घर के बाहर भागे, वैसे ही स्वयं के गृह को मृत्यु की लपटों से घिरा जान हमारे भीतर भी जीवन को पाने की तीव्र और उत्कट अभीप्सा पैदा होती है। इस अभीप्सा से बड़ा और कोई सौभाग्य नहीं, क्योंकि वही जीवन के उत्तरोत्तर गहरे स्तरों में प्रवेश दिलाती है।

९: क्या आपके भीतर ऐसी कोई प्यास है? क्या आप के प्राण ज्ञात के ऊपर अज्ञात को पाने को आकुल हुए हैं? यदि नहीं तो समझें कि आपकी आँखें बंद हैं और आप अंधे बने हुए हैं। यह अंधापन मृत्यु के अतिरिक्त और कहीं नहीं ले जा सकता है। जीवन तक पहुँचने के लिए आँखें चाहिए। उमंग रहते चेत जाना आवश्यक है। फिर पीछे पछताने से कुछ भी नहीं होता है। आँखें खोलें और देखें तो चारों ओर मृत्यु दिखाई पड़ेगी। समय में, संसार में मृत्यु ही है। लेकिन समय के—संसार के—बाहर स्वयं में अमृत भी है। तथाकथित जीवन को जो मृत्यु की भाँति जान लेता है, उसकी दृष्टि सहज ही स्वयं में छिपे अमृत की ओर उठने लगती है। जो उस अमृत को पा लेता है, पी लेता है, जी लेता है, उसे फिर कहीं भी मृत्यु नहीं रह जाती है। फिर बाहर भी मृत्यु नहीं है। मृत्यु भ्रम है और जीवन सत्य है।

अहिंसा क्या है ?

मैं अहिंसा पर बहुत विचार करता था। जो कुछ उस सम्बन्ध में सुनता था, उससे तृप्ति नहीं होती थी। वे बातें बहुत ऊपरी मालूम होती थीं। बुद्धि तो उनसे प्रभावित होती थी, पर अन्तः अछूता रह जाता था। धीरे-धीरे इसका कारण भी दीखा। जिस अहिंसा के सम्बन्ध में सुनता था, वह नकारात्मक थी। नकार बुद्धि से ज्यादा गहरे नहीं जा सकता है। जीवन को छूने के लिए कुछ विधायक चाहिए। अहिंसा, हिंसा का छोड़ना ही हो, तो वह जीवनस्पर्शी नहीं हो सकती है। वह किसी का छोड़ना नहीं, किसी की उपलब्धि होनी चाहिए। वह त्याग नहीं, प्राप्ति हो, तभी सार्थक है।

अहिंसा शब्द की नकारात्मकता ने बहुत भ्रांति को जन्म दिया है। वह शब्द तो नकारात्मक है, पर अनुभूति नकारात्मक नहीं है। वह अनुभूति शुद्ध प्रेम की है। प्रेम राग हो तो अशुद्ध है, प्रेम राग न हो तो शुद्ध है। रागयुक्त प्रेम किसी के प्रति होता है, राग-मुक्त प्रेम सब के प्रति होता है। सच यह है कि वह किसी के प्रति नहीं होता है। बस, केवल होता है। प्रेम के दो रूप हैं। प्रेम सम्बन्ध हो तो राग होता है। प्रेम स्वभाव हो, स्थिति हो, तो वीतराग होता है। यह वीतराग प्रेम ही अहिंसा है।

प्रेम के सम्बन्ध से स्वभाव में परिवर्तन अहिंसा की साधना है। वह हिंसा का त्याग नहीं, प्रेम का स्फुरण है। इस स्फुरण में हिंसा तो अपने आप छूट जाती है, उसे छोड़ने के लिए अलग से कोई आयोजन नहीं करना पड़ता है। जिस साधना में हिंसा को भी छोड़ने की चेष्टा करनी पड़े वह साधना सत्य नहीं है। प्रकाश के आते ही अँधेरा चला जाता है। यदि प्रकाश के आने पर भी उसे अलग करने की योजना करनी पड़े तो जानना चाहिए कि जो आया है, वह और कुछ भी हो, पर कम-से-कम प्रकाश तो नहीं ही है। प्रेम पर्याप्त है। उसका होना ही, हिंसा का न होना है।

प्रेम क्या है ? साधारणतः जिसे प्रेम करके जाना जाता है, वह राग है और अपने आपको भुलाने का उपाय है। मनुष्य दुख में है और अपने आपको

भूलना चाहता है। तथाकथित प्रेम के माध्यम से वह स्वयं से दूर चला जाता है। वह किसी और में अपने को भुला देता है। प्रेम मादक द्रव्यों का काम कर देता है। वह दुख से मुक्ति नहीं लाता, केवल दुखों के प्रति मूर्च्छा ला देता है। इसे मैं प्रेम का सम्बन्ध-रूप कहता हूँ। वह वस्तुतः प्रेम नहीं, प्रेम का भ्रम ही है। प्रेम का यह भ्रम-रूप दुख से उत्पन्न होता है। दुखानुभव व्यक्ति चेतना को दो दिशाओं में ले जा सकता है। एक दिशा है उसे भूलने की, और एक दिशा है उसे विसर्जित करने की। जो दुख विस्मृति की दिशा पकड़ता है वह जाने-अनजाने किसी न किसी प्रकार की मादकता और मूर्च्छा की खोज करता है। दुख-विस्मरण में आनन्द का आभास ही हो सकता है, क्योंकि जो है उसे बहुत देर तक भूलना असम्भव होता है। यह आभास ही सुख है। निश्चय ही यह सुख बहुत क्षणिक है। साधारण रूप से प्रेम नाम से जानेवाले प्रेम ऐसे ही मूर्च्छा और विस्मरण की चित्त-स्थिति है। वह दुख से उत्पन्न होता है, और दुख को भुलाने के उपाय से वह ज्यादा नही है।

मैं जिस प्रेम को अहिंसा कहता हूँ वह आनन्द का परिणाम है। उससे दुख-विस्मरण नही होता है, वरन् उसकी अभिव्यक्ति ही दुख-मुक्ति पर होती है। वह मादकता नही, परिपूर्ण जागरण है। जो चेतना दुख-विस्मरण नही, दुख-विसर्जन की दिशा में चलती है, वह उस सम्पदा की मालिक बनती है, जिसे प्रेम कहते हैं। भीतर आनन्द हो तो बाहर प्रेम फलित होता है। वस्तुतः जो भीतर आनन्द है, वही बाहर प्रेम है। वे दोनों दो नहीं हैं, वरन् एक ही अनुभूति की दो प्रतीतियां हैं। वे एक ही सिक्के के दो पहलू है। आनन्द स्वयं को अनुभव होता है। प्रेम जो निकट आते है, उन्हें अनुभव होता है। आनन्द केन्द्र है, तो प्रेम परिधि है। ऐसा प्रेम सम्बन्ध नहीं, स्वभाव है। जैसे सूरज से प्रकाश निसृत होता है, ऐसे ही वह स्वयं से निसृत होता है। प्रेम के इस स्वभाव और रूप मे कोई बाह्य आकर्षण नहीं, आन्तरिक प्रवाह है। उसका बाहर से न कोई सम्बन्ध है, न कोई अपेक्षा है। वह बाहर से मुक्त और स्वतन्त्र है। इस प्रेम को मैं अहिंसा कहता हूँ।

मैं यदि दुख में हूँ तो हिंसा में हूँ। मै यदि आनन्द में हो जाऊँ तो अहिंसा में हो जाऊँगा। इसलिए स्मरणीय है कि अहिंसा की नहीं जाती है। वह क्रिया नही, सत्ता है। उसका सम्बन्ध कुछ करने से नही, कुछ होने से है। वह आचार-परिवर्तन नही, आत्म क्रान्ति है। दुख से जो प्रवाहित होता है, वह

हिंसा है। आनन्द से जो प्रवाहित होता है, वह हिंसा निरोध है। मैं क्या करता हूँ, यह सवाल नहीं है। मैं क्या हूँ, यह सवाल है।

मैं दुख हूँ या आनन्द हूँ, यह प्रत्येक को अपने से पूछना है। उस उत्तर पर ही सब कुछ निर्भर करता है। तथाकथित आनन्द के पीछे झाँकना है, भुलावों और आत्मवंचनाओं के आवरणों को उघारकर देखना है। उसे जो वस्तुतः है, जानने को स्वयं के समक्ष नग्न होना जरूरी है। आवरणों के हटते ही दुख की अतल गहराइयाँ अनुभव होती हैं। घने अँधेरे और सन्ताप का दुख अनुभव होता है। भय लगता है, वापिस अपने आवरण को ओढ़ लेने का मन होता है। इस भाँति भयभीत होकर जो अपने दुख को ढाँक लेते हैं, वे कभी आनन्द को उपलब्ध नहीं होते हैं। दुख को ढाँकना नहीं, मिटाना है और उसे मिटाने के लिए उसका साक्षात् करना होता है। यह साक्षात् ही तप है।

दुख का विस्मरण संसार में ले जाता है। दुख का साक्षात् स्वयं में ले जाता है। जो उससे भागता है और उसे भूलना चाहता है, वह मूर्च्छा को आमंत्रण देता है। वह स्वयं ही मूर्च्छा की खोज करता है। साधारणतः जिसे हम जीवन कहते हैं, वह मूर्च्छा के अतिरिक्त और क्या है? और जिसे हम सफल जीवन कहते हैं, वह सफलता पा लेने के सिवा और क्या है? जीवन में सन्निहित दुख को जो धन की, या यश की, या काम की मादकता में भूलने में सफल मालूम होते हैं उन्हें हम सफल कहते हैं। पर सत्य कुछ अन्यथा ही है। ऐसे लोग जीवन को पाने में नहीं, गँवाने में सफल हो गए हैं। उन्होंने दुख को भुलाकर आत्मघात ही कर लिया है। दुख के प्रति जागरण आनन्द को आत्मा में प्रतिष्ठित कर देता है।

दुख साक्षात् अमूर्च्छा लाता है। उससे निद्रा टूटती है। जो व्यक्ति दुख या संताप से घबराकर पलायन नहीं करता है, और किन्हीं स्वप्नों में स्वयं को नहीं खो लेता है, वह अपने भीतर एक अभूतपूर्व चैतन्य को जागृत करता है। वह एक क्रांति का साक्षी बनता है। चैतन्य का यह जागरण उसे आमूल परिवर्तित कर देता है। वह अपने भीतर अँधेरे को टूटते हुए देखता है और देखता है कि उसकी चेतना के रंध्र-रंध्र से प्रकाश परिव्याप्त हो रहा है। इस प्रकाश में पहली बार वह स्वयं को जानता है। पहली बार उसे दीखता है कि वह कौन है।

दुख साक्षात् के दबाव में ही आत्म-जागरण होता है। आन्तरिक पीड़ा

का आत्यंतिक वोध अपनी चरम स्थिति पर विस्फोट वन जाता है। जो इस सीमा तक पीड़ा से गुजरने को राजी होते हैं, वे पीड़ा के वाहर पहुँच जाते हैं। जो इतना साहस करता है, उसके लिए सत्य अपना द्वार खोल देता है।

मैं कौन हूँ, यह जान लेना ही सत्य को जान लेना है। इस वोझ के साथ ही दुख विसर्जित हो जाता है। दुख स्व-अज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मैं अपने को जानते ही आनन्द का अधिकारी हो जाता हूँ। वह जो प्रत्येक के भीतर है, सच्चिदानंद है। उस ब्रह्म की अनुभूति आनन्द है। ब्रह्म को, आत्मा को जानना सत्य को जानना है। सत्य को जानना आनन्द को पा लेना है।

सत्य पाया जाता है। आनन्द और प्रेम उसमें फलित होते हैं। जो अंतस् में आनन्द होता है, वही आचरण में अहिंसा होकर दीखता है। अहिंसा सत्यानुभूति का परिणाम है। वह सत्य के दीए का प्रकाश है।

समाधि के पौधे में सत्य के फूल लगते हैं और अहिंसा की सुगन्ध आकाश में परिव्याप्त हो जाती है।

आनन्द की दिशा

यह क्या हो गया है ? मनुष्य को यह क्या हो गया है ? मैं आश्चर्य में हूँ कि इतनी आत्म विपन्नता, इतनी अर्थहीनता और इतनी घनी ऊब के बावजूद भी हम कैसे जी रहे हैं ?

मैं मनुष्य की आत्मा को खोजता हूँ तो केवल अंधकार ही हाथ आता है और मनुष्य के जीवन में झाँकता हूँ तो सिवा मृत्यु के और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता है।

जीवन है, लेकिन जीने का भाव नहीं। जीवन है, लेकिन एक बोझ की भाँति। वह सौन्दर्य, समृद्धि और शांति नहीं है। और आनन्द न हो, आलोक न हो तो निश्चय ही जीवन नाम-मात्र को ही जीवन रह जाता है।

क्या हम जीवन को जीना ही तो नहीं भूल गए हैं ?

पशु, पक्षी और पौधे भी हमसे ज्यादा सघनता, समृद्धि और संगीत में जीते हुए मालूम होते हैं। लेकिन शायद कोई कहे कि मनुष्य की समृद्धि तो दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही है, फिर भी आप यह क्या कह रहे हैं ? उत्तर में मैं कहूँगा : "परमात्मा मनुष्य को उसकी तथाकथित समृद्धि से बचाये। वह समृद्धि नहीं, बस केवल दरिद्रता और दीनता को भुलाने का उपाय है। यह समृद्धि, शक्ति और प्राप्ति सब स्वयं से पलायन है।"

मैं, समृद्धि के वस्त्रों को उतारकर, जब मनुष्य को देखता हूँ तो उसकी आन्तरिक दरिद्रता को देखकर हृदय बहुत विषाद से भर जाता है। क्या इस दरिद्रता को छिपाने और विस्मरण करने के लिए ही हम समृद्धि को नहीं ओढ़े हुए हैं ?

जो थोड़ा-सा भी विचार करेगा, वह सहज ही इस सत्य से परिचित हो जायगा। आत्महीनता से पीड़ित व्यक्ति पद को खोजते हैं, और आत्म-दरिद्रता से ग्रसित धन और संपदा को। भीतर जो है, उससे पलायन करने को उसके विपरीत ही हम बाहर स्वयं को निर्मित करने लगते हैं। अहंकारी विनीत बन जाते हैं और अतिकामी ब्रह्मचर्य और साधुता में स्वयं को भुला लेना चाहते हैं।

मनुष्य जो भीतर होता है, साधारणतः ठीक उसके विपरीत ही वह बाहर स्वयं को प्रकट करता है। इसलिए ही दरिद्र संपदा को खोजते हैं और जो संपदाशाली हैं, वे दरिद्रता को वरण कर लेते हैं! क्या आपने दरिद्रों को सम्राट् और सम्राटों को दरिद्र होते नहीं देखा है?

इसलिए यह न कहें कि मनुष्य की समृद्धि बढ़ गई है। वस्तुओं की समृद्धि तो बढ़ी है पर मनुष्य की समृद्धि नहीं। वह और भी दरिद्र हो गया है। स्मरण रहे कि बाह्य समृद्धि को बढ़ाने की पागल-दौड़ में वह निरन्तर और भी दरिद्र ही होता जायगा। क्योंकि इस दौड़ में वह यह भूलता ही जा रहा है कि एक और प्रकार की समृद्धि भी है, जो बाहर नहीं, स्वयं के भीतर ही उपलब्ध की जाती है। वस्तुओं का बढ़ता जाना ही एकमात्र विकास नहीं है। एक और विकास भी है जिसमें स्वयं मनुष्य भी बढ़ता है। निश्चय ही वही विकास वास्तविक है जिसमें मानवीय चेतना ऊर्ध्वगमन करती है और प्रगाढ़ता, सौन्दर्य, संगीत और सत्य को उपलब्ध होती है।

मैं आप से ही पूछना चाहता हूँ कि क्या आप वस्तुओं के संग्रह से ही संतुष्ट होना चाहते हैं, या कि चेतना के विकास की भी प्यास आप के भीतर है?

जो मात्र वस्तुओं में ही संतुष्टि सोचता है वह अंततः असंतोष के और कुछ भी नहीं पाता है, क्योंकि वस्तुएँ तो केवल सुविधा ही दे सकती हैं, और निश्चय ही सुविधा और संतोष में बहुत भेद है। सुविधा कष्ट का अभाव है, संतोष आनन्द की उपलब्धि है।

आपका हृदय क्या चाहता है? आपके प्राणों की प्यास क्या है? आपके श्वासों की तलाश क्या है? क्या कभी आपने अपने आपसे ये प्रश्न पूछे हैं? यदि नहीं, तो मुझे पूछने दें। यदि आप मुझसे पूछें तो मैं कहूँगा : "उसे पाना चाहता हूँ जिसे पाकर फिर कुछ और पाने को नहीं रह जाता।" क्या मेरा ही उत्तर आपकी अंतरात्माओं में भी नहीं उठता है?

यह मैं आपसे ही नहीं पूछ रहा हूँ, और भी हजारों लोगों से पूछता हूँ और पाता हूँ कि सभी मानव-हृदय समान हैं और उनकी आत्यंतिक चाह भी समान ही है।

आत्मा आनन्द चाहती है—पूर्ण आनन्द, क्योंकि तभी सभी चाहों का विश्राम आ सकता है। जहाँ चाह है, वहाँ दुख है क्योंकि वहाँ अभाव है।

आत्मा सब अभावों का अभाव चाहती है। अभाव का पूर्ण अभाव ही

आनन्द है और वही स्वतंत्रता भी है, मुक्ति भी, क्योंकि जहाँ कोई भी अभाव है, वहीं बंधन है, सीमा है और परतंत्रता है। अभाव जहाँ नहीं है, वहीं परममुक्ति में प्रवेश है।

आनन्द मोक्ष है और मुक्ति आनन्द है। निश्चय ही जो परम आकांक्षा है, वह बीजरूप में प्रत्येक में प्रसुप्त होनी ही चाहिए; क्योंकि, जिस बीज में वृक्ष न छिपा हो, उसमें अंकुर भी नहीं आ सकता है। हमारी जो चरम कामना है, वही हमारा आत्यंतिक स्वरूप भी है; क्योंकि स्वरूप ही अपने पूर्णविकास में आनन्द और स्वतंत्रता में परिणत हो सकता है। स्वरूप ही सत्य है और उसकी पूर्ण उपलब्धि ही संतोष बनती है।

स्वरूप की संपदा को जो नहीं खोजता है, वह विपदाओं को ही संपदाएँ समझता रहता है। निश्चय ही बाहर की कोई भी उपलब्धि अभावों का अभाव नहीं ला सकती है, क्योंकि बाहर की कोई भी संपत्ति भीतर के अभाव को कैसे भर सकेगी? अभाव आंतरिक है, तो बाहर की किसी भी विजय से उसका भराव नहीं होता है। इसलिए बाहर सब पाकर भी कुछ भी पाया-सा प्रतीत नहीं होता है, और बाहर सब होकर भी व्यक्ति भीतर रिक्त ही बना रहता है।

बुद्ध ने कहा है: "तृष्णा दुष्पूर है।"

कैसा आश्चर्य है कि चाहे हम कुछ भी पा लें, फिर भी पाने पर जो प्रतीत होता है, वह उतना ही रहता है जितना पाने के पूर्व था। इसलिए ही सम्राटों और भिखारियों का अभाव समान ही होता है। उस तल पर उनमें कोई भी भेद नहीं है।

फिर, बाह्य संगीत की दिशा में जो मिला हुआ भी मालूम होता है, उसकी भी कोई सुरक्षा नहीं है, क्योंकि किसी भी क्षण वह छिन सकता या नष्ट हो सकता है। अंततः मृत्यु तो उसे छीन ही लेती है। जो छीना जा सकता है, उसे हमारे अंतर्हृदय कभी भी अपना न मान पाते हों तो आश्चर्य ही क्या। इसलिए ही संपत्ति सुरक्षा नहीं देती है, हालांकि हम उसे सुरक्षा के लिए ही खोजते है! उल्टे हमें ही उसकी सुरक्षा करनी होती है।

यह ठीक से समझ लें कि बाह्य संपत्ति, सुविधाओं और शक्तियों से न अभाव मिटता है, न असुरक्षा मिटती है, न भय मिटता है। उनके मिथ्या आश्वासन में ज्यादा से ज्यादा व्यक्ति उन्हें भूला भर रह सकता है। इसलिए ही संपत्ति को मद कहा है। उसकी मादकता में जीवन की वास्तविक स्थिति के दर्शन नहीं

हो पाते हैं और अभाव का इस भांति विस्मरण अभाव से भी बुरा है, क्योंकि उसके कारण अभाव को मिटाने की वास्तविक दिशा में दृष्टि नहीं उठ पाती है।

जीवन में जो अभाव है, वह किसी वस्तु, शक्ति या संपदा के न होने के कारण नहीं है, क्योंकि उन सबोंके मिल जाने पर भी उसे मिटते नहीं देखा जाता है। जिनके पास सब कुछ है, क्या उनकी दरिद्रता से आप परिचित नहीं हैं? आपके पास जो कुछ है, क्या उससे जरा भी आपकी दरिद्रता और दीनता मिटी है?

संपत्ति में और संपत्ति के होने के भ्रम में बहुत भेद है। बाहर की संपत्ति-शक्ति, सुरक्षा—सभी उस वास्तविक संपत्ति की छायाएँ भर हैं जो भीतर है।

अभावों का मूल कारण बाहर की किसी उपलब्धि का होना नहीं, वरन् स्वयं की दृष्टि का बाहर होना है। इसलिए जो अभाव कुछ भी पाकर नहीं मिटते हैं, वे ही दृष्टि के भीतर मुड़ने पर पाए ही नहीं जाते हैं।

आत्मा का स्वरूप ही आनन्द है, वह उसका कोई गुण नहीं, वरन् उसका स्वरूप ही है। आत्मा का आनन्द से कोई संबंध नहीं है, वस्तुतः आत्मा ही आनन्द है। वे दोनों एक ही सत्य के नाम हैं। सत्ता की दृष्टि से जो आत्मा है, अनुभूति की दृष्टि से वही आनन्द है।

लेकिन, उस आनन्द को आत्मा मत समझ लेना जिसे साधारणतः 'आनन्द' कहा जाता है। वह 'आनन्द' आनन्द नहीं है, क्योंकि आनन्द के मिलते ही फिर आनन्द की सब खोज बंद हो जाती है। जिसके मिलने से खोज और बढ़ती है, जिसके पाने से तृष्णा और प्रबल होती है, जिसे पाकर जिसके खोने का भय पीड़ित करता है, वह आनन्द का मिथ्या आभास है, आनन्द नहीं। निश्चय ही वह जल, जल नहीं है, जिससे प्यास और भी बढ़ जाती हो। क्राइस्ट का वचन है: 'आओ, मैं उस कुएँ का पानी तुम्हें दूं, जिसे पीने से प्यास सदा को मिट जाती है।'

हम सुख को ही आनन्द समझ लेते हैं जबकि सुख आनन्द का आभास-मात्र है, छाया और परछाई है। इस आभास और भ्रम में ही अधिक लोग जीवन को गँवा देते हैं और अंततः अतृप्ति और असंतोष के और कुछ भी उन्हें हाथ नहीं लगता है। निश्चय ही यदि कोई मनुष्य झील के पानी में चाँद के प्रतिबिम्ब को देख उसे खोजने को निकल पड़े तो अंततः वह क्या पा सकेगा?

वस्तुतः उसकी खोज उसे जितना ज्यादा झील की गहराई में डुबाएगी उतना ही ज्यादा वह वास्तविक चाँद से दूर निकलता जायगा। सुख की खोज में ऐसे ही व्यक्ति आनन्द से दूर निकल जाते हैं। सुख को खोजते-खोजते जो मिलता है, वह सुख नहीं, दुख ही होता है। क्या जो मैं कह रहा हूँ उसकी सच्चाई आपको दिखाई नहीं पड़ती है? क्या आपका स्वयं का जीवन-अनुभव इस सत्य की गवाही नहीं है कि सुख की खोज अंततः दुख के तट पर ले आती है?

यही स्वाभाविक भी है, क्योंकि कोई भी परछाई या प्रतिबिम्ब केवल अपने बाह्य रूप में ही मूल के समान होता है। वस्तुतः जो उसमें दिखाई पड़ता है, उससे बिलकुल भिन्न ही उसमें पाया जाता है।

प्रत्येक सुख, आनन्द का आश्वासन और आकर्षण देता है, क्योंकि वह आनन्द की छाया है। लेकिन उसके पीछे जाने पर कुछ भी नहीं मिलता है, सिवा असफलता, विषाद और दुख के; क्योंकि आपकी छाया को पकड़कर भी मैं आपको कैसे पा सकता हूँ? और फिर, यदि आपकी छाया को पकड़ भी लूं तो भी मेरी मुट्ठी में क्या कुछ हो सकता है?

यह भी स्मरण दिला दूं कि प्रतिबिम्ब सदा ही विरोधी दिशा में बनते हैं। मैं एक दर्पण के सामने खड़ा हो जाऊँ तो दर्पण में जहाँ मैं दिखाई पड़ रहा हूँ वह ठीक उस जगह से विपरीत है जहाँ मैं हूँ। ऐसा ही सुख भी है। वह अपने में मूलतः दुख है क्योंकि वह आनन्द का प्रतिबिम्ब है, आनन्द तो भीतर है इसलिए, सुख बाहर मालूम होता है! आनन्द आनन्द है, इसीलिए सुख वस्तुतः दुख है।

मैं जो कह रहा हूँ, उसे किसी भी सुख का पीछा जान लो। प्रत्येक सुख अनिवार्यतः अंत में दुख में परिणत हो जाता है और जो अंत में जैसा है, वह वस्तुतः आरम्भ में भी वैसा होता है।

हमारे पास आँखें गहरी नहीं होती हैं, इसीलिए जिसके दर्शन प्रारंभ में होने थे, उसके दर्शन अंत में हो पाते हैं। यह असंभव है कि जो अंत में प्रकट हो, वह आरम्भ से ही उपस्थित न रहा हो। अंत तो आरम्भ का ही विकास है। आरम्भ में जो अप्रकट था, वही अंत में प्रकट हो जाता है। पर न केवल हमारी आँखें उथला देखती हैं वरन् अधिकांशतः तो वे देखती ही नहीं हैं। हम अक्सर उन्हीं रास्तों पर बार-बार चले जाते हैं, जिनपर बहुत बार पूर्व में जाकर

भी दुख, पीड़ा और अवसाद को झेल चुके होते हैं।

जहाँ दुख के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं पाया, उसी ओर फिर-फिर जाते हैं। क्यों? क्योंकि शायद उसके अतिरिक्त और कोई मार्ग हमें दिखाई ही नहीं पड़ता है। इसलिए मैंने कहा कि हम न केवल धुँधला और उथला देखते हैं बल्कि हम देखते ही नहीं हैं। बहुत कम लोग हैं जो जीवन में आँखों का उपयोग करते हों।

आँखें सबके पास हैं, लेकिन आँखों के होते हुए भी अधिकांश अंधे बने रहते हैं। जिसने स्वयं के भीतर नहीं देखा है, उसने कभी अपनी आँखों का उपयोग ही नहीं किया है। केवल वही कह सकता है कि 'मैं आँख वाला हूँ' जिसने स्वयं को देखा है; क्योंकि जो स्वयं को ही नहीं देखता है, वह और क्या देखेगा?

आँखों की शुरुआत स्वयं को ही देखने से होती है और जो स्वयं को देखता है, दूसरे देखते हैं कि उसके चरण सुख की दिशा में नहीं जा रहे हैं। वह व्यक्ति आनन्द की दिशा में चलना प्रारम्भ कर देता है। सुख की दिशा स्वयं से संसार की ओर है; आनन्द की दिशा संसार से स्वयं की ओर है।

माँगो और मिलेगा

मै यह क्या देख रहा हूँ ? यह कैसी निराशा तुम्हारी आँखों मे है ? और क्या तुम्हे ज्ञात नही है कि जब आँखे निराश होती हे, तब हृदय की वह अग्नि बुझ जाती है और वे सारी अभिप्साएँ सो जाती है, जिनके कारण मनुष्य मनुष्य है।

निराशा पाप है क्योकि जीवन उसकी धारा मे निश्चय ही ऊर्ध्वगमन खो देता है।

निराशा पाप ही नही, आत्मघात भी है क्योकि जो श्रेष्ठतर जीवन को पाने मे संलग्न नही है, उसके चरण अनायास ही मृत्यु की ओर बढ़ जाते हे।

यह शाश्वत नियम है कि जो ऊपर नही उठता, वह नीचे गिर जाता है, और जो आगे नही बढता, वह पीछे ढकेल दिया जाता है।

मै जब किसी को पतन मे जाते देखता हूँ तो जानता हूँ कि उसने पर्वत-शिखरों की ओर उठना बन्द कर दिया होगा। पतन की प्रक्रिया विधेयात्मक नही है। घाटियों में जाना, पर्वतों पर न जाने का ही दूसरा पहलू है। वह उसकी ही निषेध छाया है।

और जब तुम्हारी आँखों में मै निराशा देखता हूँ तो स्वाभाविक ही है कि मेरा हृदय प्रेम, पीड़ा और करुणा से भर जाय, क्योकि निराशा मृत्यु की घाटियो मे उतरने का प्रारम्भ है।

आशा सूर्यमुखी के फूलों की भाँति सूर्य की ओर देखती है, और निराशा ? वह अधकार से एक हो जाती है। जो निराश हो जाता है, वह अपनी अंत-निहित विराट शक्ति के प्रति सो जाता है, और उसे विस्मृत कर देता है जो वह है, और जो वह हो सकता है।

बीज जैसे भूल जाय कि उसे क्या होना है और मिट्टी के साथ ही एक होकर पड़ा रह जाय, ऐसा ही वह मनुष्य है जो निराशा में डूब जाता है।

और आज तो सभी निराशा में डूबे हुए है।

नीत्से ने कहा है : 'परमात्मा मर गया है।' यह समाचार उतना दुखद नही

है जितना कि आशा का मर जाना, क्योंकि आशा हो तो परमात्मा को पा लेना कठिन नहीं है और यदि आशा न हो तो परमात्मा के होने से कोई भेद नहीं पड़ता। आशा का आकर्षण ही मनुष्य को अज्ञात की यात्रा पर ले जाता है। आशा ही प्रेरणा है जो उसकी सोई शक्तियों को जगाती है और उसकी निष्क्रिय चेतना को सक्रिय करती है।

क्या मैं कहूँ कि आशा की भावदशा ही आस्तिकता है?

और यह भी कि आशा ही समस्त जीवन-आरोहण का मूल उत्स और प्राण है?

पर आशा कहाँ है? मैं तुम्हारे प्राणों में खोजता हूँ तो वहाँ निराशा की राख के सिवा और कुछ भी नहीं मिलता। आशा के अंगारे न हों तो तुम जीओगे कैसे? निश्चय ही तुम्हारा यह जीवन इतना बुझा हुआ है कि मैं इसे जीवन भी कहने में असमर्थ हूँ!

मुझे आज्ञा दो कि मैं कहूँ कि तुम मर गए हो! असल में तुम कभी जिये ही नहीं, तुम्हारा जन्म तो जरूर हुआ था लेकिन वह जीवन तक नहीं पहुँच सका! जन्म ही जीवन नहीं है। जन्म मिलता है। जीवन पाना होता है। इसलिए जन्म मृत्यु में ही छीन भी लिया जाता है। लेकिन जीवन को कोई भी मृत्यु नहीं छीन पाती है। जीवन जन्म नहीं है और इसलिए जीवन मृत्यु भी नहीं है।

जीवन जन्म के भी पूर्व है और मृत्यु के भी अतीत है। जो उसे जानता है वही केवल भयों और दुखों के ऊपर उठ पाता है।

किन्तु, जो निराशा से घिरे है, वे उसे कैसे जानेंगे? वे तो जन्म और मृत्यु के तनाव में ही समाप्त हो जाते हैं!

जीवन एक संभावना है और उसे सत्य में परिणित करने के लिए साधना चाहिए। निराशा में साधना का जन्म नहीं होता क्योंकि निराशा तो बाँझ है और उसमें कभी भी किसी का जन्म नहीं होता है। इसीलिए मैंने कहा कि निराशा आत्मघाती है क्योंकि उससे किसी भी भाँति की सृजनात्मक शक्ति का आविर्भाव नहीं होता है।

मैं कहता हूँ: उठो और निराशा को फेंक दो। उसे तुम अपने ही हाथों से ओढ़े बैठे हो। उसे फेंकने के लिए और कुछ भी नहीं करना है सिवा इसके कि तुम उसे फेंकने को राजी हो जाओ। तुम्हारे अतिरिक्त और कोई उसके लिए

जिम्मेदार नहीं है।

मनुष्य जैसा भाव करता है, वैसा ही हो जाता है। उसके ही भाव उसका सृजन करते हैं। वही अपना भाग्य-विधाता है।

विचार—विचार-विचार, और उनका सतत् आवर्त्तन ही अंततः वस्तुओं और स्थितियों में घनीभूत हो जाता है।

स्मरण रहे कि तुम जो भी हो वह तुमने ही अनन्त बार चाहा है, विचारा है और उसकी भावना की है। देखो, स्मृति में खोजो तो निश्चय ही जो मैं कह रहा हूँ उस सत्य के तुम्हें दर्शन होंगे। और जब यह सत्य तुम्हें दीखेगा तो तुम स्वयं के आत्मपरिवर्तन की कुंजी को पा जाओगे। अपने ही द्वारा ओढ़े भावों और विचारों को उतारकर अलग कर देना कठिन नहीं होता है। वस्त्रों को उतारने में भी जितनी कठिनता होती है उतनी भी उन्हें उतारने में नहीं होती है, क्योंकि वे तो हैं भी नहीं—सिवा तुम्हारे ख्याल के उनकी कहीं भी कोई सत्ता नहीं है।

हम अपने ही भावों में, अपने ही हाथों से कैद हो जाते हैं, अन्यथा वह जो हमारे भीतर है, सदा, सदैव ही स्वतंत्र है।

क्या निराशा से बड़ी और कोई कैद है ? नहीं। क्योंकि पत्थरों की दीवारें जो नहीं कर सकतीं, वह निराशा करती है। दीवारों को तोड़ना संभव है, लेकिन निराशा तो मुक्त होने की आकांक्षा को ही खो देती है।

निराशा से मजबूत जंजीरें भी नहीं हैं, क्योंकि लोहे की जंजीरें तो मात्र शरीर को ही बाँधती हैं, निराशा तो आत्मा को भी बांध लेती है।

निराशा की इन जंजीरों को तोड़ दो। उन्हें तोड़ा जा सकता है, इसीलिए ही मैं तोड़ने को कह रहा हूँ। उनकी सत्ता स्वप्न-सत्ता-मात्र है। उन्हें तोड़ने के संकल्प मात्र से ही वे टूट जायगी। जैसे दीए के जलते ही अंधकार टूट जाता है, वैसे ही संकल्प के जागते ही स्वप्न टूट जाते हैं।

और, फिर निराशा के खंडित होते ही जो आलोक चेतना को घेर लेता है, उसका ही नाम आशा है।

निराशा स्वयं आरोपित दशा है। आशा स्वभाव है, स्वरूप है।

निराशा मानसिक आवरण है। आशा आत्मिक आविर्भाव। मैं कह रहा हूँ कि आशा स्वभाव है। क्यों ? क्योंकि यदि ऐसा न हो तो जीवन-विकास की ओर सतत गति और आरोहण की कोई संभावना न रह जाय। बीज अंकुर

बनने को तड़पता है, क्योंकि कहीं उसके प्राणों के किसी अंतरतम केन्द्र पर आशा का आवास है। सभी प्राण अंकुरित होना चाहते हैं और जो भी है वह विकसित और पूर्ण होना चाहता है। अपूर्ण को पूर्ण के लिए अभीप्सा आशा के अभाव में कैसे हो सकती है और पदार्थ की परमात्मा की ओर यात्रा क्या आशा के बिना संभव है ?

मैं नदियों को सागर की ओर दौड़ते देखता हूँ तो मुझे उनके प्राणों में आशा का संचार दिखाई पड़ता है। और, जब मैं अग्नि को सूर्य की ओर उठते देखता हूँ तब भी उन लपटों में छिपी आशा के मुझे दर्शन होते हैं।

और क्या यह ज्ञात नहीं है कि छोटे-छोटे बच्चों की आँखों में आशा के दीप जलते हैं ? और पशुओं की आँखों में भी और पक्षियों के गीतों में भी ?

जो भी जीवित है, वह आशा से जीवित है और जो भी मृत है वह निराशा से मृत है।

यदि हम छोटे बच्चों को देखें जिन्हें अभी समाज, शिक्षा और सभ्यता ने विकृत नहीं किया है, तो बहुत से जीवन-सूत्र हमें दिखाई पड़ेंगे। सबसे पहली बात दिखाई पड़ेगी : आशा, दूसरी बात : जिज्ञासा, और तीसरी बात : श्रद्धा। निश्चय ही ये गुण स्वाभाविक हैं।

उन्हें अर्जित नहीं करना होता है। हाँ हम चाहें तो उन्हें खो अवश्य सकते हैं। फिर भी हम उन्हें बिलकुल ही नहीं खो सकते हैं क्योंकि जो स्वभाव है वह नष्ट नहीं होता। स्वभाव केवल आच्छादित ही हो सकता है, विनष्ट नहीं।

और जो स्वभाव नहीं है, वह भी केवल वस्त्र ही बन सकता है, अंतस् कभी नहीं। इसलिए मैं कहता हूँ कि वस्त्रों को अलग करो और उसे देखो जो तुम स्वयं हो। सब वस्त्र बंधन हैं और निश्चय ही परमात्मा निर्वस्त्र है।

क्या अच्छा न हो कि तुम भी निर्वस्त्र हो जाओ ? मैं उन वस्त्रों की बात नहीं कर रहा हूँ, जो कपास के धागों से बनते हैं। उन्हें छोड़कर तो बहुत से व्यक्ति निर्वस्त्र हो जाते हैं और फिर भी वही बने रहते हैं जो वे वस्त्रों में थे—कपास में थे। कपास के कमजोर धागे नहीं, निषेधात्मक भावनाओं की लौह शृंखलाएँ तुम्हारे बंधन हैं। उन्हें जो छोड़ता है वही उस निर्दोष नग्नता को उपलब्ध होता है जिसकी ओर महावीर ने इशारा किया है।

सत्य को पाने को, स्वयं को जानने को, स्वरूप में प्रतिष्ठित होने को—सब

वस्त्रों को छोड़ नग्न हो जाना आवश्यक है।

और निराशा के वस्त्र सबसे पहले छोड़ने होंगे क्योंकि उसके बाद ही दूसरे वस्त्र छोड़े जा सकते हैं।

परमात्मा की उपलब्धि के पूर्व यदि तुम्हारे चरण कहीं भी रुकें तो जानना कि निराशा का विष कहीं न कहीं तुम्हारे भीतर बना ही हुआ है। उससे ही प्रमाद और आलस्य उत्पन्न होता है।

संसार में विश्राम के स्थलों को ही प्रभाववश गन्तव्य समझने की भूल हो जाती है। परमात्मा के पूर्व और परमात्मा के अतिरिक्त और कोई गन्तव्य नहीं है। इसे अपनी समग्र आत्मा को कहने दो। कहने दो कि परमात्मा के अतिरिक्त और कोई चरम विश्राम नहीं, क्योंकि परमात्मा में ही पूर्णता है।

परमात्मा के पूर्व जो रुकता है, वह स्वयं का अपमान करता है क्योंकि वह जो हो सकता था, उसके पूर्व ही ठहर गया होता है।

संकल्प और साध्य जितना ऊँचा हो, उतनी ही गहराई तक स्वयं की सोई शक्तियाँ जागती हैं, साध्य की ऊँचाई ही तुम्हारी शक्ति का परिणाम है। आकाश को छूते वृक्षों को देखो। उनकी जड़ें अवश्य ही पताल को छूती होंगी। तुम भी यदि आकाश छूने की आशा और आकांक्षा से आंदोलित हो जाओगे तो निश्चय ही जानो कि तुम्हारे गहरे से गहरे प्राणों में सोई हुई शक्तियाँ जाग जायँगी। जितनी तुम्हारी अभीप्सा की ऊँचाई होती है, उतनी ही तुम्हारी शक्ति की गहराई भी होती है।

क्षुद्र की आकांक्षा, चेतना को क्षुद्र बनाती है, तब यदि माँगना ही है तो परमात्मा को माँगो। वह जो अंततः तुम होना चाहोगे, प्रारंभ से ही उसकी ही तुम्हारी माँग होनी चाहिए। क्योंकि, प्रथम ही अंततः अंतिम उपलब्धि बनता है।

मैं जानता हूँ कि तुम ऐसी परिस्थितियों में निरन्तर ही घिरे हो, जो प्रतिकूल हैं और परमात्मा की ओर उठने से रोकती हैं। लेकिन ध्यान में रखना कि जो परमात्मा की ओर उठे, वे भी कभी ऐसी ही परिस्थितियों से घिरे थे।

परिस्थितियों का बहाना मत लेना। परिस्थितियाँ नहीं, वह बहाना ही असली अवरोध बन जाता है। परिस्थितियाँ कितनी ही प्रतिकूल हों, वे इतनी प्रतिकूल कभी भी नहीं हो सकती हैं कि परमात्मा के मार्ग में बाधा बन जावें।

वैसा होना असंभव है। वह तो वैसा ही होगा जैसे कि कोई कहे कि अँधेरा

इतना घना है कि प्रकाश के जलाने में बाधा बन गया है। अँधेरा कभी इतना घना नहीं होता और न ही परिस्थितियाँ इतनी प्रतिकूल होती हैं कि वे प्रकाश के आगमन में बाधा बन सकें। तुम्हारी निराशा के अतिरिक्त और कोई बाधा नहीं है। वस्तुतः तुम्हारे अतिरिक्त और कोई बाधा नहीं है।

उसे बहुत मूल्य कभी मत दो जो आज है और कल नहीं होगा। जिसमें पल-पल परिवर्तन है, उसका मूल्य ही क्या ? परिस्थितियों का प्रवाह तो नदी की भाँति है। उसे देखो, उस पर ध्यान दो जो नदी की धार में भी अडिग चट्टान की भाँति स्थिर है। वह कौन है ? वह तुम्हारी चेतना है, वह तुम्हारी आत्मा है, वह तुम अपने वास्तविक स्वरूप में स्वयं हो।

सब बदल जाता है—बस वही अपरिवर्तित है। उस ध्रुव बिन्दु को पकड़ो और उस पर ठहरो। लेकिन तुम तो आँधियों के साथ काँप रहे हो और लहरों के साथ थरथरा रहे हो। क्या वह शांत और अडिग चट्टान तुम्हें नहीं दिखाई पड़ती है जिस पर तुम खड़े हो और जो तुम हो ? उसकी स्मृति को लाओ। उसकी ओर आँखें उठते ही निराशा आशा में परिणत हो जाती है और अंधकार आलोक बन जाता है।

स्मरण रखना कि जो समग्र हृदय से, आशा और आश्वासन से, शक्ति और संकल्प से, प्रेम और प्रार्थना से, स्वयं की सत्ता का द्वार खटखटाता है, वह कभी भी असफल नहीं लौटता है, क्योंकि प्रभु के मार्ग पर असफलता है ही नहीं। पाप के मार्ग पर सफलता असंभव और प्रभु के मार्ग पर असफलता असंभव। पाप के मार्ग पर सफलता हो तो समझना कि भ्रम है और प्रभु के मार्ग पर असफलता हो तो समझना कि परीक्षा है।

वस्तुतः प्रभु की उपलब्धि का द्वार कभी बंद ही नहीं है। हम अपनी ही निराशा में अपनी ही आँख बन्द कर लेते हैं, यह बात दूसरी है। निराशा को हटाओ और देखो—वह कौन सामने खड़ा है ? क्या यही वह सूर्य नहीं है जिसकी खोज थी, क्या यही वह प्रिय नहीं है, जिसकी प्यास थी ?

क्राइस्ट ने कहा है, 'माँगो और मिलेगा। खटखटाओ और द्वार खुल जायँगे।' वही मैं पुनः कहता हूँ। वही क्राइस्ट के पहले कहा गया था, वही मेरे बाद भी कहा जायगा। धन्य हैं वे लोग जो द्वार खटखटाते हैं और आश्चर्य है उन लोगों पर जो प्रभु के द्वार पर ही खड़े हैं और आँख बंद किए हैं और रो रहे हैं।

प्रेम ही प्रभु है

मैं मनुष्य को रोज विकृति से विकृति की ओर जाते देख रहा हूँ, उसके भीतर कोई आधार टूट गया है। कोई बहुत अनिवार्य जीवन स्नायु जैसे नष्ट हो गए हैं और हम संस्कृति में नहीं, विकृति में जी रहे हैं।

इस विकृति और विघटन के परिणाम व्यक्ति से समष्टि तक फैल गए हैं, परिवार से लेकर पृथ्वी की समग्र परिधि तक उसकी बेसुरी प्रतिध्वनियाँ सुनाई पड़ रही हैं। जिसे हम संस्कृति कहें, वह संगीत कहीं भी सुनाई नहीं पड़ता है।

मनुष्य के अन्तस् के तार सुव्यवस्थित हों तो वह संगीत भी हो सकता है। अन्यथा उससे बेसुरा कोई वाद्य नहीं है।

फिर जैसे झील में एक जगह पत्थर के गिरने से लहर-वृत्त दूर कूल किनारों तक फैल जाते हैं, वैसे ही मनुष्य के चित्त में उठी हुई संस्कृति या विकृति की लहरें भी सारी मनुष्यता के अन्तस्थल में आन्दोलन उत्पन्न करती है। मनुष्य, जो व्यक्ति मालूम होता है, एकदम व्यक्ति ही नहीं है, उसकी जड़ें समष्टि तक फैली हुई हैं और इसलिए उसका रोग या स्वास्थ्य बहुत संक्रामक होता है।

हमारी सदी किस रोग से पीड़ित है? बहुत से रोग गिनाए जाते हैं। मैं भी एक रोग की ओर इशारा करना चाहता हूँ, और मेरी दृष्टि में शेष सारे रोगों की जड़ में वही रोग है। शेष रोग उस एक मूल रोग के ही परिणाम हैं। मनुष्य जब भी इस मूल रोग से ग्रसित होता है, तभी वह आत्मघात और विनाश में लग जाता है।

उस मूल रोग को मैं क्या नाम दूँ? उसे नाम देना आसान नहीं है। फिर भी मैं कहना चाहूँगा कि वह रोग है—मनुष्य के हृदय में प्रेम-स्रोत का सूख जाना। हम प्रेम के अभाव से पीड़ित हैं। हमारे हृदय की धड़कनों में हृदय नहीं है और केवल फेफड़े ही धड़क रहे हैं।

प्रेम के अभाव से बड़ी दुर्घटना और दुर्भाग्य मनुष्य के जीवन में दूसरा नहीं है, क्योंकि वह जीता है किन्तु जीवन से उसके संबंध छिन्नच्छिन्न हो जाते हैं। प्रेम हमें समग्र से जोड़ता है, प्रेम के अभाव में हम सत्ता से पृथक और अकेले हो जाते हैं।

आज का मनुष्य अपने को अकेला और अजनबी अनुभव करता है। वह प्रेम के बिना निश्चय ही अकेला है। प्रेम के अभाव में प्रत्येक स्वयं में बन्द अणु है, जिससे दूसरे तक न कोई द्वार है, न सेतु है। आज ऐसा ही हुआ है। हम सब अपने में बन्द हैं।

यह अपने में बन्द होना अपनी कब्रों में होने से भिन्न नहीं है और हम जीते जी मुर्दे हो गए हैं।

क्या जो मैं कह रहा हूँ, उसका सत्य आपको दिखाई नहीं पड़ता है?

क्या आप जीवित हैं और अपने भीतर प्रेम की शक्ति का प्रवाह आपको अनुभव होता है? यदि वह प्रवाह आपके रक्त में नहीं है और उसकी धड़कनें हृदय में शून्य हो गई हैं, तो समझें कि आप जीवित नहीं हैं।

प्रेम ही जीवन है और प्रेम के अतिरिक्त और कोई जीवन नहीं है।

मैं एक यात्रा में था। वहाँ किसी ने पूछा था: मनुष्य की भाषा में सबसे मूल्यवान शब्द कौन-सा है। मैंने कहा था: 'प्रेम'। तो पूछनेवाले मित्र चौंके थे। उन्होंने सोचा होगा कि मैं कहूँगा: 'आत्मा या परमात्मा'। उनकी अपेक्षा भी स्वाभाविक ही थी किन्तु उनकी उलझन को देखकर मुझे बहुत हँसी आ गई थी और मैंने कहा था: 'प्रेम ही प्रभु है।'

निश्चय ही इस पृथ्वी पर जो किरण शरीर और मन के पार से आती है, वह किरण प्रेम की है।

प्रेम संसार में अकेली ही अपार्थिव घटना है। वह अद्वितीय है। मनुष्य का सारा दर्शन, सारा काव्य, सारा धर्म उससे ही अनुप्रेरित है। मानवीय जीवन में जो श्रेष्ठ और सुन्दर है, वह सब प्रेम से ही जन्म और जीवन पाता है।

इसलिए मैं कहता हूँ कि प्रेम ही प्रभु है। प्रेम की आशा-किरण के सहारे ही प्रभु के आलोकित लोक तक पहुँच जाता है। प्रभु को सत्य कहने से भी ज्यादा प्रीतिकर उसे प्रेम कहना है। प्रेम में जो रस, जो जीवन्तता, संगीत और सौन्दर्य है वह सत्य में नहीं है। सत्य में वह निकटता नहीं है, जो प्रेम में है। सत्य जानने की ही बात है, प्रेम होने की भी।

प्रेम का विकास और पूर्णता ही अन्ततः प्रभु-प्रवेश में परिणत हो जाता है। मैंने सुना है कि आचार्य रामानुज से किसी व्यक्ति ने धर्म-जीवन में दीक्षित किए जाने की प्रार्थना की थी। उन्होंने उस से पूछा था 'मित्र, क्या तुम किसी को प्रेम करते हो?" वह बोला था: "नहीं, मेरा तो किसी से प्रेम नहीं है।

मैं तो प्रभु को पाना चाहता हूँ।" यह सुनकर रामानुज ने दुखी हो उससे कहा था: "फिर मैं असमर्थ हूँ। मैं तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं कर सकता हूँ। प्रेम तुम्हारे भीतर होता तो उसे परिशुद्ध कर प्रभु की ओर ले जाया जा सकता था। लेकिन तुम तो कहते हो कि वह तुममें है ही नहीं!"

प्रेम का अभाव सबसे बड़ी दरिद्रता है। जिसके भीतर प्रेम नहीं है, वह दीन है। वैसा व्यक्ति अपने हाथों नरक में है। श्वास-श्वास का, प्रेम से परिपूरित हो जाना ही मैंने स्वर्ग जाना है। वैसा व्यक्ति जहाँ होता है, वह स्वर्ग होता है।

मनुष्य अद्भुत पौधा है। उसमें विष और अमृत दोनों के फूल लगने की संभावना है। वह स्वयं के चित्त को यदि घृणा और अप्रेम से परिपोषित करे तो विष के फूलों को उपलब्ध हो जाता है और वह चाहे तो प्रेम को स्वयं में जगाकर अमृत के फूलों को पा सकता है।

मैं सबकी सत्ता से स्वयं को पृथक और विरोधी मानकर अपने जीवन को ढालूँ तो परिणाम में अप्रेम फलित होगा। ऐसा जीवन ही अधार्मिक जीवन है। वह असत्य भी है। क्योंकि वस्तुतः हमारा होना सागर पर लहरों के होने से भिन्न नहीं है। विश्व-सत्ता से कोई सत्तावान पृथक नहीं है। सबके प्राणों का आदिस्रोत उसी केन्द्र में है। उसे चाहें तो हम किसी नाम से पुकारें। नामों से कोई भेद नहीं पड़ता। सत्ता एक और अद्वय है।

और यदि मैं अपने जीवन को सर्व के विरोध में नहीं, वरन् सर्व के स्वीकार और सहयोग में ढालूँ तो परिणाम में प्रेम फलित होता है। प्रेम इस बोध का परिणाम है कि मैं सर्व सत्ता से पृथक और अन्य नहीं हूँ। मैं उसमें हूँ और वह मुझ में है। ऐसा जीवन धार्मिक जीवन है।

एक सूफी कथा मुझे स्मरण आती है।

किसी प्रेमी ने अपनी प्रेयसी के द्वार को खटखटाया। भीतर से पूछा गया, "कौन है?" उसने कहा 'मैं हूँ तुम्हारा प्रेमी'। प्रत्युत्तर में उसे सुन पड़ा: 'इस घर में दो के लायक स्थान नहीं है।' बहुत दिनों बाद वह पुनः उसी द्वार पर लौटा। उसने फिर द्वार खटखटाया। फिर वही प्रश्न कि कौन? इस बार उसने कहा: 'तू ही है।' और वे बन्द द्वार उसके लिए खुल गए थे।

प्रेम के द्वार केवल उसके लिए ही खुलते हैं जो अपने 'मैं' को छोड़ने को तैयार हो जाता है। किसी एक व्यक्ति के प्रति यदि कोई अपने 'मैं' को छोड़

देता है तो लोक में उसे प्रेम कहते हैं और जब कोई सर्व के प्रति अपने 'मैं' को छोड़ देता है, तो वही प्रेम बन जाता है। वैसा प्रेम ही भक्ति है।

प्रेम काम नहीं है। जो काम को ही प्रेम समझ लेते हैं, वे प्रेम से वंचित रह जाते हैं। काम प्रेम का आभास और भ्रम है। वह प्रकृति का सम्मोहन है। उस सम्मोहन के यांत्रिक माध्यम से प्रकृति संतति-उत्पादन का अपना व्यापार चलाती है। प्रेम का आयाम उससे बहुत भिन्न और बहुत ऊपर है। वस्तुतः प्रेम जितना विकसित होता है, काम उतना ही विलीन होता है। वह ऊर्जा जो काम में प्रकट होती है, उसका संपरिवर्तन प्रेम में हो जाता है। प्रेम उस शक्ति का ही सृजनात्मक ऊर्ध्वीकरण है, और इसलिए जब प्रेम पूर्ण होता है, तो कामशून्यता अनायास ही फलित हो जाती है। प्रेम के ऐसे जीवन का नाम ही ब्रह्मचर्य है। काम से जिसे मुक्त होना हो, उसे प्रेम को विकसित करना चाहिए। काम के दमन से कभी कोई काम से मुक्त नहीं होता। उससे मुक्ति तो केवल प्रेम में ही है।

मैंने कहा: प्रेम प्रभु है। यह अंतिम सत्य है। अब यह भी कहने दें कि प्रेम परिवार है। यह प्रथम सीढ़ी है। और स्मरण रहे कि प्रथम के अभाव में अंतिम का कोई आधार नहीं है।

प्रेम से परिवार बनता है और प्रेम के विकास से परिवार बड़ा होता जाता है। फिर जब उस परिवार के बाहर कुछ भी नहीं रह जाता है, तो वही प्रभु हो जाता है।

प्रेम के अभाव में मनुष्य निपट निजता में रह जाता है। उसका कोई परिवार नहीं होता है। वह 'स्व' रह जाता है और 'पर' से उसका कोई सेतु नहीं रह जाता। यह क्रमिक मृत्यु है, क्योंकि जीवन तो पारस्परिकता में है, जीवन तो संबंधों में है।

प्रेम में 'स्व' और 'पर' का अतिक्रमण है और जहाँ न 'स्व' है, न 'पर' है, वहीं सत्य है।

सत्य के लिए जो प्यासे हैं उन्हें प्रेम साधना होगा। उस क्षण तक जब तक कि प्रेमी और प्रिय न मिट जायँ और केवल प्रेम ही शेष न रह जाय। प्रेम की ज्योति जब विषय और विषयी के धुएँ से मुक्त हो निर्धूम जलती है, तभी मोक्ष है। तभी निर्वाण है।

मैं उस परम मुक्ति के लिए सभी को आमंत्रित करता हूँ।

नीति, भय और प्रेम

मैं सोचता हूँ कि क्या बोलूँ ? मनुष्य के संबंध में विचार करते ही मुझे उन हजार आँखों का स्मरण आता है, जिन्हें देखने और जिनमें आँकने का मुझे मौका मिला है। उनकी स्मृति आते ही मैं दुखी हो जाता हूँ। जो उनमें देखा है, वह हृदय में काँटों की भाँति चुभता है। क्या देखना चाहता था और क्या देखने को मिला ! आनन्द को खोजता था, पाया विषाद। आलोक को खोजता था, पाया अंधकार। प्रभु को खोजता था, पाया पाप। मनुष्य को यह क्या हो गया है ?

उसका जीवन जीवन भी तो नहीं मालूम होता। जहाँ शाँति न हो, संगीत न हो, शक्ति न हो, आनन्द न हो—वहाँ जीवन भी क्या होगा ? आनन्दरिक्त, अर्थशून्य अराजकता को जीवन कैसे कहें ? जीवन नहीं, बस एक दुख-स्वप्न ही उसे कहा जा सकता है—एक मूर्च्छा, एक बेहोशी और पीड़ाओं की एक लम्बी शृंखला। निश्चय ही यह जीवन नहीं। बस एक लम्बी बीमारी है जिसकी परि-समाप्ति मृत्यु में हो जाती है। हम जी भी नहीं पाते, और मर जाते हैं। जन्म पा लेना एक बात है, जीवन को पा लेने का सौभाग्य बहुत कम मनुष्यों को उपलब्ध हो पाता है।

जीवन को केवल वे ही उपलब्ध होते हैं, जो स्वयं के और सर्व के भीतर परमात्मा को अनुभव कर लेते हैं। उस अभाव में हम केवल शरीर मात्र हैं और शरीर जड़ है, जीवन नहीं। स्वयं को शरीर मात्र ही जानता है, वह जीवित होकर भी जीवन को नहीं जानता है।

जीवन की अनादि अनन्त धारा से अभी उसका परिचय नहीं हुआ, और उस परिचय के अभाव में जीवन आनन्द नहीं हो पाता है। आत्म अज्ञान ही दुख है। आत्म ज्ञान हो तो मनुष्य का हृदय आलोक बन जाता है, और वह न हो तो उसका पथ अंधकारपूर्ण होगा ही। वह उस में हो तो वह दिव्य हो जाता है, और वह न हो तो वह पशुओं से भी बदतर पशु है।

शरीर के अतिरिक्त और शरीर का अतिक्रमण करता हुआ अपने भीतर जो किसी भी सत्य का अनुभव नहीं कर पाते हैं उनके जीवन पशु-जीवन से ऊपर

नहीं उठ सकते। शरीर के मृत्तिका घेरे से ऊपर उठती हुई जीवन-ज्योति जब अनुभव में आती है तभी ऊर्ध्वगमन प्रारम्भ होता है। उसके पूर्व जो प्रकृति प्रतीत होती थी, वही उसके बाद परमात्मा में परिणत हो जाती है।

फिर जब स्वयं के भीतर अशान्ति हो, दुख हो, संताप हो, अंधकार और जड़ता हो तो स्वभावतः उनके ही कीटाणु हमसे बाहर भी विस्तीर्ण होने लगते हैं। भीतर जो हो वह बाहर भी फैलने लगता है।

अंतस् ही तो आचरण बनता है। आचरण में हम उसी को बाँटते हैं, जिसे अन्तस् में पाते हैं। अन्तस् ही अन्ततः आचरण है। हम जो भीतर हैं, वही हमारे अन्तर्सम्बन्धों में बाहर परिव्याप्त हो जाता है। प्रत्येक प्रतिक्षण स्वयं को उलीच रहा है। विचार में, वाणी में, व्यवहार में हम स्वयं को ही दान कर रहे है।

इस भाँति व्यक्तियों के हृदय में जो उठता है, वही समाज बन जाता है। समाज में विष हो तो उसके बीज व्यक्तियों में छिपे होंगे और समाज को अमृत की चाह हो तो उसे व्यक्तियों में ही बोना होगा। व्यक्तियों के हृदय आनन्द से भरे हों तो उनके अन्तर्सम्बन्धी करुणा, मैत्री और प्रीति से भर जाते हैं और दुख से भरे हों तो हिंसा, विद्वेष और घृणा से।

उनके भीतर जीवन-संगीत बजता हो तो उनके बाहर भी संगीत और सुगंध फैलती है, और उनके भीतर दुख और सन्ताप और रुदन हो तो उन्हीं की प्रति-ध्वनियाँ उनके विचार और आचार में भी सुनी जाती है। यह स्वाभाविक ही है। आनन्द को उपलब्ध व्यक्ति का जीवन ही प्रेम बन सकता है।

प्रेम ही नीति है, अप्रेम अनीति है। प्रेम में जो जितना गहरा प्रविष्ट होता है वह प्रभु में उतना ही ऊपर उठ जाता है, और जो प्रेम में जितना विपरीत होता है वह पशु में उतना ही पतित। प्रेम पवित्र जीवन का—नैतिक जीवन का—मूलाधार है।

क्राइस्ट का वचन है: 'प्रेम ही प्रभु है।' सन्त अगस्ताइन से किसी ने पूछा 'मैं क्या करूँ, कैसे जीऊँ कि मुझसे पाप न हो?' तो उन्होंने कहा था: "प्रेम करो, और फिर तुम जो भी करोगे वह सब ठीक होगा, शुभ होगा।"

'प्रेम'—इस एक शब्द में वह सब अणु छिपा है जो मनुष्य को पशु से प्रभु तक ले जाता है। लेकिन स्मरण रहे कि प्रेम केवल तभी सम्भव है जब भीतर आनन्द हो। प्रेम को ऊपर से आरोपित नहीं किया जा सकता। वह

कोई वस्त्र नहीं है जिसे हम ऊपर से ओढ़ सकें। वह तो हमारी आत्मा है। उसका तो आविष्कार करना होता है। उसे ओढ़ना नहीं, उघाड़ना होता है। उसका आरोपण नहीं, आविर्भाव होता है।

प्रेम किया नहीं जाता है। वह तो एक चेतना अवस्था है जिसमें हुआ जाता है। प्रेम कर्म नहीं है, स्वभाव हो तभी सत्य होता है। और तभी वह दिव्य जीवन का आधार भी बनता है।

यह भी स्मरण रहे कि सहज स्फुरित स्वभाव-रूप प्रेम के अभाव में जो नैतिक जीवन होता है वह दिव्यता की ओर ले जाने में असमर्थ है, क्योंकि वस्तुतः वह सत्य नहीं है। उसके आधार किसी न किसी रूप में भय और प्रलोभन पर रखे होते हैं। फिर चाहे वे भय या प्रलोभन लौकिक हों या पारलौकिक।

स्वर्ग के प्रलोभन या नर्क के भय से यदि कोई नैतिक और पवित्र है तो उसे न तो मैं नैतिक कहता हूँ और न ही पवित्र। वह सौदे में हो सकता है, लेकिन सत्य में नहीं। नैतिक जीवन तो बेशर्त जीवन है। उसमें पाने का कोई प्रश्न ही नहीं है।

वह तो आनन्द और प्रेम से स्फुरित सहचर्या है। उसकी उपलब्धि तो उसमें ही है, उसके बाहर नहीं। सूर्य से जैसे प्रकाश झरता है, वैसे ही आनन्द से पवित्रता और पुण्य प्रवाहित होते हैं।

एक अद्भुत दृश्य मुझे याद आ रहा है। सन्त राबिया किसी बाजार से दौड़ी जा रही थी। उसके एक हाथ में जलती हुई मशाल थी और दूसरे में पानी से भरा हुआ घड़ा। लोगों ने उसे रोका और पूछा : 'यह घड़ा और मशाल किसलिए है और तुम कहाँ दौड़ी जा रही हो?' राबिया ने कहा था : "मैं स्वर्ग को जलाने और नर्क को डुबाने जा रही हूँ ताकि तुम्हारे धार्मिक होने के मार्ग की बाधाएँ नष्ट हो जावें।"

मैं भी राबिया से सहमत हूँ और स्वर्ग को जलाना और नर्क को डुबाना चाहता हूँ। वस्तुतः भय और प्रलोभन पर कोई वास्तविक नैतिक जीवन न कभी भी खड़ा हुआ है और न हो सकता है। उस भाँति तो नैतिक जीवन का केवल एक मिथ्या आभास ही पैदा हो जाता है और उससे आत्मविकास नहीं, आत्मवंचना ही होती है।

इस तरह के मिथ्या नैतिक जीवन के आधार को मनुष्य के ज्ञान के विकास

ने नष्ट कर दिए हैं और परिणाम में अनीति नग्न और स्पष्ट हो गई है। स्वर्ग और नर्क की मान्यताएँ थोथी मालूम होने लगी हैं और परिणामतः उनका प्रलोभन और भय भी शून्य हो गया है।

आज की अनैतिकता और अराजकता का मूल कारण यही है। नीति नहीं, नीति का आभास टूट गया है और यह शुभ ही है कि हम एक भ्रम से बाहर हो गए हैं। लेकिन एक बड़ा उत्तरदायित्व भी आ गया है। वह है सम्यक् नैतिक जीवन के लिए नया आधार खोजने का। वह आधार भी सदा से है।

महावीर, बुद्ध, क्राइस्ट या कृष्ण की अन्तर्दृष्टियाँ मिथ्या नैतिक आभासों पर नहीं खड़ी हैं। भय या प्रलोभन पर नहीं, प्रेम, ज्ञान और आनन्द पर ही उसकी नीवें रखी गई हैं। प्रेमाधारित नीति का पुनरुद्धार करना है। उसके अभाव में मनुष्य के नैतिक जीवन का अब कोई भविष्य नहीं है।

भय पर आधारित नीति मर गई है। प्रेम पर आधारित नीति का जन्म न हो तो हमारे सामने अनैतिक होने के अतिरिक्त और विकल्प नहीं रह जाता। जबरदस्ती मनुष्य को नैतिक नहीं बनाया जा सकता है। उसकी बौद्धिक प्रौढ़ता अन्धविश्वासों को अंगीकार नहीं कर सकती है।

मैं प्रेम में द्वार देखता हूँ। उस द्वार से ध्वस्त हुई पवित्रता और नैतिकता का पुनर्जन्म हो सकता है।

लेकिन मनुष्य में सर्व के प्रति प्रेम का जन्म तभी होता है, जब स्वयं में आनन्द का जन्म हो। इसलिए असली प्रश्न आनन्दानुभूति है। अंतस् में आनन्द हो तो आत्मानुभूति से प्रेम उपजता है।

जो स्वयं की आत्यंतिक सत्ता से अपरिचित है, वह कभी भी आनन्द को उपलब्ध नहीं हो सकता है। स्वरूप-प्रतिष्ठा ही आनन्द है और इसीलिए स्वयं को जानना वस्तुतः नैतिक और शुभ होने का मार्ग है। स्वयं को जानते ही आनन्द का संगीत बजने लगता है और ज्ञान का आलोक फैल जाता है और फिर जिसके दर्शन स्वय के भीतर होते हैं, उसके ही दर्शन समस्त में होने लगते हैं।

स्वयं के अणु को जानते ही सर्व समस्त सत्ता जान ली जाती है। स्वयं को ही सबमें पाकर प्रेम का जन्म होता है। प्रेम से बड़ी और कोई क्रान्ति नहीं है और न उससे बड़ी कोई पवित्रता है और न उपलब्धि है। जो उसे पा लेता है वह जीवन को पा लेता है।

अहिंसा का अर्थ

मैं उन दिनों का स्मरण करता हूँ जब चित्त पर घना अंधकार था और स्वयं के भीतर कोई मार्ग दिखाई नहीं पड़ता था। तब की एक बात ख्याल में है। वह यह कि उन दिनों किसी के प्रति कोई प्रेम प्रतीत नहीं होता था। दूसरे तो दूर, स्वयं के प्रति भी कोई प्रेम नहीं था।

फिर, जब समाधि को जाना तो साथ ही यह भी जाना कि जैसे भीतर सोए हुए प्रेम के अनन्त झरने अनायास ही सहज और सक्रिय हो गए हैं। यह प्रेम विशेष रूप से किसी के प्रति नहीं था। वह तो बस था, और सहज ही प्रवाहित हो रहा था। जैसे दीए से प्रकाश बहता है और फूलों से सुगन्ध, ऐसे ही वह भी बह रहा था। बोध के उस अद्भुत क्षण में जाना था कि वह तो स्वभाव का प्रकाश है। वह किसी के प्रति नहीं होता है। वह तो स्वयं की स्फुरणा है।

इस अनुभूति के पूर्व प्रेम को मैं राग मानता था। अब जाना कि प्रेम और राग तो भिन्न हैं। राग तो प्रेम का अभाव है। वह घृणा के विपरीत है, इसीलिए ही राग कभी भी घृणा में परिणत हो सकता है। राग और घृणा का जोड़ा है। वे एक दूसरे में परिवर्तनीय हैं। प्रेम घृणा से विपरीत नहीं, भिन्न है। प्रेम घृणा और राग से अन्य है। वह आयाम ही दूसरा है। वह तो दोनों का अभाव है। किन्तु, वह उपेक्षा भी नहीं है। उपेक्षा मात्र अभाव है। प्रेम किसी अत्यन्त ही अभिनव ऊर्जा का सद्भाव भी है। यह ऊर्जा स्वयं से सर्व के प्रति बहती है, लेकिन सर्व आकर्षित होकर नहीं, वरन् स्वयं से स्फुरित होकर।

प्रेम को जानकर मैंने अहिंसा का अर्थ जाना। वह अर्थ शास्त्र से नहीं, स्वयं से आया। स्वानुभव ने सब सुलझा दिया। प्रेम सम्बन्ध हो, तो राग है; प्रेम असम्बन्ध, असंग और स्वस्फूर्त प्रवाह हो, तो अहिंसा है।

इसीलिए मैं कहने लगा कि वीतराग प्रेम अहिंसा है।

एक संन्यासी पूछता था कि जिस प्रेम की आप बात करते हैं, उसे कैसे पायें? मैंने कहा : प्रेम सीधा नहीं पाया जाता है। वह तो परिणाम है। प्रज्ञा

को उपलब्ध करो, तो प्रेम पारिश्रमिक में मिल जाता है। असली बात है प्रज्ञा। उसका दीया जलेगा, तो प्रेम का प्रकाश मिलेगा ही। प्रज्ञा हो और प्रेम न हो, यह असंभव है। ज्ञान हो और अहिंसा न हो, यह कैसे हो सकता है? इसलिए ही अहिंसा को सत्य-ज्ञान की परीक्षा माना गया है। वह परम धर्म है, क्योंकि वह आत्यंतिक कसौटी है। उसके निष्कर्ष पर खरा उतरकर ही धर्म खरा साबित होता है।

प्रज्ञा कैसे उपलब्ध हो, यह विचारणीय है।

धर्म की मूल जिज्ञासा भी यही है। हम में जो ज्ञान शक्ति है, वह विषय-मुक्त हो तो प्रज्ञा बन जाती है। विषय के अभाव में ज्ञान स्वयं को ही जानता ... के द्वारा स्वयं का ज्ञान ही प्रज्ञा है। उस बोध में न कोई ज्ञाता होता ...ई ज्ञेय, मात्र ज्ञान की शुद्ध शक्ति ही शेष रह जाती है। उसका स्वयं का प्रकाशित होना प्रज्ञा है। ज्ञान का यह स्वयं पर लौट आना मनुष्य-की सबसे बड़ी क्रांति है। इस क्रांति में ही मनुष्य स्वयं से सम्बन्धित है और जीवन के प्रयोजन और अर्थवत्ता का उसके समक्ष उद्घाटन है।

ऐसी क्रांति समाधि से उपलब्ध होती है। प्रज्ञा का साधन समाधि है। ... साधन है; प्रज्ञा साध्य है, प्रेम उस सिद्धि का परिणाम है।

मनुष्य-चित्त सतत विषय-प्रवाह से भरा है। कोई न कोई ज्ञेय हमारे ज्ञान को घेरे हुए है। ज्ञेय से ज्ञान को मुक्त करना है। उस खूंटी से मुक्त होकर ही उसकी स्वयं में स्थिरता और प्रतिष्ठा होगी। समाधि इस मुक्ति का उपाय है। सुषुप्ति में भी मुक्ति होती है, लेकिन वह अवस्था मूर्च्छित है।

सुषुप्ति में मन स्वयं में लीन हो जाता है। यह स्थिति उसका अपना स्वरूप है। इससे ही कहते हैं : 'स्वप्ति' (सोता है)। स्व का अर्थ है अपने आप, और अपीति का अर्थ है "प्रवेश कर जाना"। अपने आप में प्रवेश कर जाना ही सुषुप्ति है।

समाधि और सुषुप्ति केवल एक बात को छोड़कर बिलकुल समान हैं। सुषुप्ति अचेतन और मूर्च्छित अवस्था है, समाधि पूर्ण चेतन और अप्रकट। इसीलिए सुषुप्ति में हम जगत् के साथ एक हो गए मालूम होते हैं, और समाधि में परम चेतना के साथ।

इसीलिए स्मरण रहे कि समाधि सुषुप्ति नहीं है। अनेक मनस्तत्ववेत्ताओं

को उपलब्ध करो, तो प्रेम पारिश्रमिक में मिल जाता है। असली बात है प्रज्ञा। उसका दीया जलेगा, तो प्रेम का प्रकाश मिलेगा ही। प्रज्ञा हो और प्रेम न हो, यह असंभव है। ज्ञान हो और अहिंसा न हो, यह कैसे हो सकता है ? इसलिए ही अहिंसा को सत्य-ज्ञान की परीक्षा माना गया है। वह परम धर्म है, क्योंकि वह आत्यंतिक कसौटी है। उसके निष्कर्ष पर खरा उतरकर ही धर्म खरा साबित होता है।

प्रज्ञा कैसे उपलब्ध हो, यह विचारणीय है।

धर्म की मूल जिज्ञासा भी यही है। हम में जो ज्ञान शक्ति है, वह विषय-मुक्त हो तो प्रज्ञा बन जाती है। विषय के अभाव में ज्ञान स्वयं को ही जानता है। स्वयं के द्वारा स्वयं का ज्ञान ही प्रज्ञा है। उस बोध में न कोई ज्ञाता होता है, न कोई ज्ञेय, मात्र ज्ञान की शुद्ध शक्ति ही शेष रह जाती है। उसका स्वयं से स्वयं का प्रकाशित होना प्रज्ञा है। ज्ञान का यह स्वयं पर लौट आना मनुष्य-चेतना की सबसे बड़ी क्रांति है। इस क्रांति से ही मनुष्य स्वयं से सम्बन्धित होता है और जीवन के प्रयोजन और अर्थवत्ता का उसके समक्ष उद्घाटन होता है।

ऐसी क्रांति समाधि से उपलब्ध होती है। प्रज्ञा का साधन समाधि है। समाधि साधन है; प्रज्ञा साध्य है, प्रेम उस सिद्धि का परिणाम है।

मनुष्य-चित्त सतत विषय-प्रवाह से भरा है। कोई न कोई ज्ञेय हमारे ज्ञान को घेरे हुए है। ज्ञेय से ज्ञान को मुक्त करना है। उस खूंटी से मुक्त होकर ही उसकी स्वयं में स्थिरता और प्रतिष्ठा होगी। समाधि इस मुक्ति का उपाय है। सुषुप्ति में भी मुक्ति होती है, लेकिन वह अवस्था मूर्च्छित है।

सुषुप्ति में मन स्वयं में लीन हो जाता है। यह स्थिति उसका अपना स्वरूप है। इससे ही कहते हैं : 'स्वपिति' (सोता है)। स्व का अर्थ है अपने आप, और अपीति का अर्थ है "प्रवेश कर जाना"। अपने आप में प्रवेश कर जाना ही सुषुप्ति है।

समाधि और सुषुप्ति केवल एक बात को छोड़कर बिलकुल समान हैं। सुषुप्ति अचेतन और मूर्च्छित अवस्था है, समाधि पूर्ण चेतन और अप्रकट। इसीलिए सुषुप्ति में हम जगत् के साथ एक हो गए मालूम होते हैं, और समाधि में परम चेतना के साथ।

इसीलिए स्मरण रहे कि समाधि सुषुप्ति नहीं है। अनेक मनस्तत्त्ववेत्ताओं

का ख्याल है कि चेतना जब निर्विषय होगी, तो निद्रा आ जायगी। यह भ्रांति बिना प्रयोग किए सोचने से पैदा हुई है। चेतना सो जाय तो निर्विषय हो जाती है। लेकिन इससे यह फलित नहीं होता है कि वह निर्विषय होगी तो सो जायगी। उसे निर्विषय बनाना ही इतने श्रम और सचेष्ट जागरुकता से होता है कि उसकी उपलब्धि पर सो जाना असंभव है। उसकी उपलब्धि पर तो शुद्ध बुद्धता ही शेष रह जाती है।

समाधि-साधना के तीन अंग हैं : १ चित्त-विषयों के प्रति अनासक्ति। २ चित्त-वृत्तियों के प्रति जागरुकता और ३ चित्त-साक्षी की स्मृति।

चित्त-विषयों के प्रति अनासक्ति से उनके संस्कार बनने बन्द होते हैं, और चित्तवृत्तियों के प्रति जागरुकता से उन वृत्तियों का क्रमशः विसर्जन प्रारम्भ होता है, और चित्तसाक्षी की स्मृति से स्वयं प्रवेश का द्वार खुलता है।

जो वस्तु जहाँ उद्‌गम पाती है, उससे ही अन्ततः लीन भी होती है। उद्‌गम बिन्दु ही लय बिन्दु भी होता है। और जो उद्‌गम है, जो लय है, वही स्व-स्वरूप भी है।

समाधि चित्त की लयावस्था है, जैसे सागर की लहरें सागर में ही अन्ततः लय को प्राप्त हो जाती हैं, वैसे ही चित्त भी, समाधि अवस्था में अपनी समस्त वृत्ति तरंगों को शून्य कर परम चेतना में लय होता है।

चित्त और चित्तवृत्तियों के समग्र संस्थान का केन्द्र अहंकार है। उनके विलीन होने से वह भी विसर्जित हो जाता है। तब जो शेष रहता है, और जिसकी अनुभूति होती है, वही आत्मा है।

अहिंसा क्या है ? यह तो रोज ही मुझसे पूछा जाता है। मैं कहता हूँ आत्मा को जान लेना अहिंसा है।

मैं यदि स्वयं को जानने में समर्थ हो जाऊँ, तो साथ ही सबके भीतर जिसका वास है, उसे भी जान लूंगा। इस बोध से प्रेम उत्पन्न होता है, और प्रेम के लिए किसी को भी दुःख देना असंभव है। किसी को दुख देने की यह असंभावना ही अहिंसा है।

आत्म अज्ञान का केन्द्रीय लक्षण अहं है। उससे ही समस्त हिंसा उत्पन्न होती है। "मैं" सब कुछ हूँ और शेष जगत् मेरे लिए है।' "मैं" समस्त सत्ता का केन्द्र और लक्ष्य हूँ— इस "मैं" भाव से पैदा हुआ शोषण ही हिंसा है। आत्म ज्ञान का केन्द्रीय लक्षण प्रेम है।

जहाँ अहं शून्य होता है, वहीं प्रेम पूर्ण होता है। जगत् में दो ही प्रकार की चेतना-स्थितियाँ है : अहं की और प्रेम की। अहं संकीर्ण और अणुस्थिति है, प्रेम विराट और ब्रह्म। अहं का केन्द्र "मैं" है, प्रेम का कोई केन्द्र नहीं है, या 'सर्व' ही उसका केन्द्र है। अहं अपने लिए जीता है, प्रेम सबके लिए जीता है। अहं शोषण है, प्रेम सेवा है। प्रेम से सहज प्रवाहित सेवा ही अहिंसा है।

समाधि को साधो, ताकि तुम्हारा जीवन प्रज्ञा के प्रकाश से भर जाय। जब भीतर प्रकाश होगा, तभी बाहर प्रेम बहेगा। प्रेम आत्मिक उत्कर्ष और उपलब्धि का श्रेष्ठतम फल है। जो उसे पाए बिना समाप्त हो जाते हैं, वे जीवन को बिना जाने ही समाप्त हो जाते हैं।

प्रेम को नहीं जाना तो कुछ भी नहीं जाना, क्योंकि प्रेम ही प्रभु है।

मैं मृत्यु सिखाता हूँ

मैं प्रकाश की बात नहीं करता हूँ, वह कोई प्रश्न ही नही है। प्रश्न वस्तुतः आँख का है। वह है, तो प्रकाश है। वह नहीं है, तो प्रकाश नही है। क्या है वह, हम नहीं जानते हैं। जो हम जान सकते है, वही हम जानते है। इसलिए विचारणीय सत्ता नही, विचारणीय ज्ञान की क्षमता है। सत्ता उतनी ही ज्ञात होती हे, जितना ज्ञान जागृत होता है।

कोई पूछता था : आत्मा है या नही है ? मैने कहा : आपके पास उसे देखने की आँख है, तो है, अन्यथा नही ही है। साधारणतः हम केवल पदार्थ को ही देखते है। इंद्रियों मे केवल वही ग्रहण होता है। देह के माध्यम से जो भी जाना जाता है वह देह से अन्य हो भी कैसे सकता है। देह, देह को ही देखती है और देख सकती है। अदेही उससे अस्पर्शित रह जाता है। आत्मा उसकी ग्रहण-सीमा में नही आती है। वह पदार्थ से अन्य है। इसलिए उसे जानने का मार्ग भी पदार्थ से अन्य ही हो सकता है।

आत्मा को जानने का मार्ग धर्म है। धर्म उपदेश नहीं, वह उपचार है। वह उस आतरिक चक्षु की चिकित्सा है जिससे जो पदार्थ के अतिरेक है और पदार्थ का अतिक्रमण करता है, उसे जाना जाता है।

वह कोई विचारणा नही, साधना है। विचारणा ऐंद्रिक है। क्योकि सब विचार इंद्रियों मे ही ग्रहण होते है और इसलिए विचारणा कभी ऐंद्रिक का अतिक्रमण नही कर पाती है। विचार अंतत् में जागते नही, बाहर से आते है। वे अंतम् नहीं, अतिथि हैं। वे स्वयं नही, पर है।

इसलिए विचार अपनी चरम परिणति मे विज्ञान बनकर अनिवार्यतः पदार्थ-केन्द्रित हो जाता है और जो विचार का उसके तार्किक अन्त तक अनुगमन करेगा वह पायगा कि पदार्थ के अतिरिक्त जगत् मे और कुछ भी नहीं है।

विचार स्वरूपतः आत्मा के निषेध के लिए आबद्ध है, क्योकि उसका जन्म और ग्रहण इन्द्रियों से होता है और जो इन्द्रियों के अतीत है, वह उसकी सीमा नही। इसलिए आत्मा को प्रकट करनेवाले सब विचार असगत और तर्कशून्य

मालूम होते हैं। यह स्वाभाविक ही है।

धर्म अतर्क्य है, क्योंकि धर्म कोई विचार नहीं है। वह असंगत भी है। क्योंकि इंद्रिय-ज्ञान से उसकी कोई संगति संभव नहीं है, और वह इन्द्रियों से नहीं वरन् किसी बहुत ही अन्य और भिन्न मार्ग से उपलब्ध होता है।

धर्म विचार की अनुभूति नहीं, निर्विचार चैतन्य में हुआ बोध है। विचार इंद्रियजन्य है। निर्विचार चैतन्य अतीन्द्रिय है। विचार की चरम निष्पत्ति पदार्थ है।

निर्विचार चैतन्य का चरम साक्षात् आत्मा है। इसलिए जो विचारणा आत्मा के संबंध में है, वह व्यर्थ है। वह साधना सार्थक है जो निर्विचारणा की ओर है।

विचार के पीछे भी कोई है, वही बोध है, विवेक है, बुद्धि है। विचार में ग्रस्त और व्यस्त उसे नहीं जान पाता है। विचार धुएँ की भाँति उस अग्नि को ढाँके रहते हैं। उनमें होकर सारा जीवन ही धुआँ हो जाता है और व्यक्ति उस ज्ञानाग्नि से अपरिचित ही रह जाता है जो उसका वास्तविक होना है।

विचार पराए हैं। वह अग्नि ही अपनी है। विचार ज्ञान नहीं है। वही चक्षु है, जिससे सत्य जाना जाता है। वह नहीं है, तो हम अंधे हैं, और अंधेपन में प्रकाश तो क्या, अँधेरा भी नहीं जाना जा सकता।

एक बार एक साधु के पास कुछ लोग अपने अंधे मित्र को लाए थे। उन्होंने उसे बहुत समझाया था कि प्रकाश है, पर वह मानने को राजी नहीं हुआ था। उसका न मानना ठीक भी था। मानना ही गलत हुआ होता, यही विचार-संगत था।

जो नहीं दीख रहा था, वह नहीं था। हममें से अधिक का तर्क भी यही है। वह अंधा भी विचारक था और विचार के नियमों के अनुकूल ही उसका वह व्यवहार था। उसके मित्र ही गलत थे। साधु ने यही कहा था। उसने कहा था : मेरे पास क्यों लाए हो? किसी वैद्य के पास ले जाओ। तुम्हारे मित्र को प्रकाश समझाने की नहीं, चिकित्सा की आवश्यकता है। मैं भी यही कहता हूँ। आँख है तो प्रकाश है और जो प्रकाश के लिए सच है वही आत्मा के लिए भी सच है।

सत्य वही है जो प्रत्यक्ष हो। यद्यपि जो प्रत्यक्ष है, केवल वही सत्य नहीं है। सत्य अनन्त है। अनन्त प्रत्यक्ष भी हो सकता है। विचार हमारी सीमा

है, इंद्रियाँ हमारी सीमा हैं। इसलिए उनसे जो जाना जाता है वह वही है जिसकी सीमा है।

असीम को, अनन्त को, उनसे ऊपर उठकर जानना होता है। इंद्रियों के पीछे विचार-शून्य चित्त की स्थिति में जिसका साक्षात् होता है, वही अनन्त, असीम, अनादि आत्मा है।

आत्मा को जानने की आँख शून्य है। उसे ही समाधि कहा है। यह योग है। चित्त की वृत्तियों के विसर्जन से बन्द आँखें खुलती हैं और सारा जीवन अमृत-प्रकाश से आलोकित और रूपांतरित हो जाता है। वहाँ पुनः पूछना नहीं होता कि आत्मा है या नहीं है। वहाँ जाना जाता है। वहाँ दर्शन है। विचार, वृत्तियाँ, चित्त जहाँ नहीं हैं— वहाँ दर्शन है।

शून्य से पूर्ण का दर्शन होता है और शून्य आता है विचार-प्रक्रिया के तटस्थ चुनाव रहित साक्षीभाव से। विचार में शुभाशुभ का निर्णय नहीं करना है। वह निर्णय राग या विराग लाता है।

किसी को रोक रखना और किसी को परित्याग करने का भाव उससे पैदा होता है। वह भाव ही विचार-बंधन है। वह भाव ही चित्त का जीवन और प्राण है। उस भाव के आधार पर ही विचार की शृंखला अनवरत चलती चली जाती है। विचार के प्रति कोई भी भाव हमें विचार से बाँध देता है।

उसके तटस्थ साक्षी का अर्थ है निर्भाव। विचार को निर्भाव के बिन्दु से देखना ध्यान है। बस देखना है, और चुनाव नहीं करना है, और निर्णय नहीं लेना है। यह देखना बहुत श्रमसाध्य है।

यद्यपि कुछ करना नहीं है पर कुछ न कुछ करते रहने की हमारी इतनी आदत बनी है कि कुछ न करने जैसा सरल और सहज कार्य भी बहुत कठिन हो गया है।

बस, देखने मात्र के बिन्दु पर थिर होने से क्रमशः विचार विलीन होने लगते हैं, वैसे ही जैसे प्रभात में सूर्य के उत्ताप में दूब पर जमे ओसकण वाष्पीभूत हो जाते हैं। बस, देखने का उत्ताप विचारों के वाष्पीभूत हो जाने के लिए पर्याप्त है। वह राह है जहाँ से शून्य उद्घाटित होता है और मनुष्य को आँख मिलती है और आत्मा मिलती है।

मैं एक अँधेरी रात में अकेला बैठा था। बाहर भी अकेला था, भीतर भी अकेला था। बाहर किसी की उपस्थिति नहीं थी और भीतर किसी का

विचार नहीं था। कोई क्रिया भी नहीं थी। वह देखता था, कुछ देखता था ऐसा नहीं, बस देखता ही था। उस देखने का कोई विषय नहीं था। वह देखना निर्विषय और आधारशून्य था। वह किसी का देखना नहीं, बस मात्र देखना ही था। किसी ने आकर पूछा था कि क्या कर रहे हैं? अब मैं क्या कहता? कुछ कर तो रहा ही नहीं था। मैंने कहा : मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ। मैं बस हूँ, यह मात्र होना ही शून्य है। यही वह बिन्दु है जहाँ पदार्थ का अतिक्रमण और परमात्मा का आरम्भ होता है।

मैं शून्य सिखाता हूँ। मैं यह मिटना ही सिखाता हूँ। मैं यह मृत्यु ही सिखाता हूँ और यह इसलिए सिखाता हूँ कि तुम पूर्ण हो सको, तुम अमृत हो सको। कैसा आश्चर्य है कि मिटकर जीवन मिलता है और जो जीवन से चिपटते हैं वे उसे खो देते हैं। पूर्ण होने की जो चिन्ता में है, वह रिक्त और शून्य हो जाता है और जो शून्य होकर निश्चित है, वह पूर्ण को पा लेता है।

बूंद, बूंद रहकर सागर नहीं हो सकती। वह अहंकार निष्फल है। उस दिशा से बूंद तो मिट सकती है, पर सागर नहीं हो सकती है। बूंद बने रहने का आग्रह ही तो सागर होने में बाधा है। वही तो आडम्बर और रुकावट है।

सागर की ओर से द्वार कभी भी बन्द नहीं है, क्योंकि जिसके द्वार पर बूंद अपने ही हाथों अपने में बन्द होती है। उसकी दीवारें और सीमाएँ उसकी अपनी ही हैं। सागर तो वह होना चाहती है पर अपने बूंद होने को नहीं तोड़ना चाहती है। यही उसकी दुविधा है। यही दुविधा मनुष्य की है। यह असम्भव है कि बूंद, बूंद भी रहे, और सागर हो जाय; और व्यक्ति, व्यक्ति भी रहे और ब्रह्म को जान ले, ब्रह्म हो जाय। 'मैं' की बूंद मिटती है तो आत्मा का सागर उपलब्ध होता है।

आत्मा का सागर बहुत निकट है और हम व्यर्थ ही बूंद को पकड़कर रुके हुए हैं। आत्मा का अमृत निकट है और हम व्यर्थ ही मृत्यु को ओढ़कर बैठे हुए हैं। बूंद को मिटाना पड़ेगा और हमें अपने ही हाथों से ओढ़े हुए वस्त्रों को दूर करना पड़ेगा और अपनी सीमाएँ छोड़नी ही होगी। तभी हम अनन्त और असीम सत्य के अंग हो सकते हैं।

यह साहस जिनमें नहीं है वे धार्मिक नहीं हो सकते हैं। धर्म मनुष्य-जीवन का चरम साहस है क्योंकि वह स्वयं को शून्य करने और विसर्जित करने का

मार्ग है। धर्म भयभीतों की दिशा नहीं है। स्वर्ग के लोभ से पीड़ित और नर्क के भय से कंपितों के लिए वह पुरुषार्थ नहीं है। वे सारे प्रलोभन और भय: बूंद के हैं।

उन भयों और प्रलोभनों से ही तो बूंद ने अपने को बनाया और बांधा है। बूंद को मिटाना है और व्यक्ति को मृत्यु देना है। जिसमें इतना अभय और साहस है वही सागर के निमंत्रण को स्वीकार कर सकता है। सागर का निमंत्रण ही सत्य का निमंत्रण है।

आचार्य रजनीश का साहित्य

अज्ञात की ओर	२.००
अन्तर्यात्रा	प्रेस में
अन्तर्वीणा	५.००
अमृतकण	०.६०
अहिंसादर्शन	०.५०
अस्वीकृति में उठा हाथ (भारत, गाँधी और मेरी चिन्ता)	५.००
कामयोग, धर्म और गाँधी	३.००
क्रान्तिबीज	४.००
कुछ ज्योतिर्मय क्षण	१.००
गहरे पानी पैठ	५.००
गीतादर्शन : पुष्प १, २, ३, ५,	१७.००
जीवन और मृत्यु	१.००
जिन खोजा तिन पाइयाँ	२०.००
ज्यों की त्यों धर दीन्ही चदरिया	४.००
ढाई आखर प्रेम का	५.००
नए संकेत	२.००
नए मनुष्य के जन्म की दिशा	०.७५
पथ के प्रदीप	प्रेस में
परिवारनियोजन	०.७५
प्रभु की पगडंडियाँ	४.००
पूर्व का धर्म : पश्चिम का विज्ञान	०.५०
प्रेम के फूल	५.००
प्रेम है द्वार प्रभु का	८.००
महावीर : मेरी दृष्टि में	३०.००
मिट्टी के दीए	प्रेस में
मैं कहता आँखन देखी	५.००
मैं कौन हूँ ?	३.००
मन के पार	१.००
शान्ति की खोज	२.००
साधनापथ	प्रेस में
सत्य का सागर शून्य की नाव	३.००

AVAILABLE ENGLISH BOOKS OF ACHARYA RAJNEESH

I. TRANSLATED FROM THE ORIGINAL HINDI VERSION :

	Price
1. Path of Self-Realization	4.00
2. Seeds of Revolutionary Thoughts	4·50
3. Philosophy of Non-Violence	0·80
4. Who am I ?	3·00
5. Earthen Lamps	4·50
6. Wings of Love and Random Thoughts	3·50
7. Towards the Unknown	1·50
8 From Sex to Superconsciousness	6·00

II. ORIGINAL ENGLISH BOOKLETS :

9. The Mysteries of Life and Death	4·00
10. Meditation : A New Dimension	2·00
11. Beyond and Beyond	2·00
12. Flight of the Alone to the Alone	2·50
13. LSD : A Short cut to False Samadhi	2·00
14. Yoga : As Spontaneous Happening	2·00
15. The Vital Balance	1·50
16. The Gateless Gate	2·00
17. The Silent Music	2·00
18. The Turning In	2·00
19. The Eternal Message	2·00
20. What is Meditation ?	3.00
21. The Dimensionless Dimension	2·00

III. CRITICAL STUDIES ON ACHARYA RAJNEESH :

22. *Acharya Rajneesh* : A Glimpse	1 25
23. *The Mystic of Feeling* : A Study in Rajneesh's Religion of Experience.—Dr. R. C. Prasad	20·00
24. *Lifting the Veil* : The Essential Rajneesh —Dr. R. C. Prasad	(In Press)